

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जैनधर्म : जीवन और जगत्

साध्वी कनकश्री
(सेवा निकाय-व्यवस्थापिका)

जैन विश्व भारती प्रकाशन

स्वर्गीय पूज्य पिताश्री रामचन्द्रजी सोनी की पुण्य स्मृति में उनके
पुत्र पदमकुमार, विमलकुमार, सज्जनकुमार चेतनकुमार सोनी
सोजतरोड (बम्बई) के अर्थ-सौजन्य से प्रकाशित ।

द्वितीय संस्करण : १९९७

मूल्य : दोस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाहनु, नागीर (राज०)/
मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित जैन विश्व
भारती प्रेस, लाहनु-३४१ ३०६ ।

JAINDHARM . JIVAN AUR JAGAT
Sadhu Kanakari

Rs 20.00

आशीर्वचन

जैन-दर्शन का निरूपण जीव और अजीव—इन दो तत्त्वों को आधार मानकर किया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पृथ्वी और जीव—यह पदद्रव्यात्मक लोक है। इसमें जीव और अजीव—दोनों का समावेश है। लोक के स्वरूप को अधिगत करने के लिए यह द्रव्यो का बोध आवश्यक है। जीव को उसके संपूर्ण विकास की प्रक्रिया से गुजरने के लिए नौ तत्त्वों का बोध आवश्यक है। "जैनधर्म जीवन और जगत्" पुस्तक में द्रव्यवाद और तत्त्ववाद का सक्षिप्त और समीचीन स्वरूप उजागर हुआ है।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए तीन बातें जरूरी हैं—ज्ञान देने वाला विद्वान, ज्ञान दान का माध्यम साहित्य और जिज्ञासु पाठक या श्रोता। देखा जाए तो आज तीनों ही श्रेणियों के व्यक्ति कम उपलब्ध होते हैं। निष्काम भाव से ठोस ज्ञान देने वाले गुरु कहाँ हैं? जीवन-स्पर्शी गम्भीर साहित्य कहाँ है? गहरी जिज्ञासा रखने वाले विद्यार्थी भी कहाँ हैं? इस क्षेत्र में जो कमी आई है, आ रही है, उसकी पूर्ति के लिए विशेष ध्यान देने की अपेक्षा है।

हमने अपनी ओर से इस त्रिकोणात्मक अभियान को गति देने का लक्ष्य बना रखा है। फलतः यहाँ अच्छे शिक्षक, अच्छा साहित्य और अच्छे विद्यार्थी उपलब्ध हैं। वर्तमान की अति व्यस्त जीवन-शैली में जैन-दर्शन का ठोस अध्ययन करने के लिए कुछ अवकाश रहे, इस दृष्टि से "जैन-विश्व भारती" के समण सस्कृति सहाय की ओर से "जैनविद्या" के साथ पत्राचार पाठमाला का एक सार्थक कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

साहित्य-लेखन के क्षेत्र में हमने अपने धर्मसंघ की साध्वियों को विशेष रूप से प्रेरित किया। अनेक साध्वियों ने उस प्रेरणा को पकड़ा और लेखन में रस लिया। साध्वी कनकश्री उनमें एक हैं। वह अध्ययनशील हैं, प्रघर घमता हैं और अच्छी लेखिका हैं। वह अपने लेखन को अधिक गतिशील बनाएँ। इसके साथ मेरी यह भी अपेक्षा है कि गम्भीर और ठोस साहित्य के पाठकों की सख्या में अभिवृद्धि हो।

जैन विश्व भारती,

गणाधिपति तुलसी

१ मार्च, १९९६

मगल-संदेश

प्रस्तुत पुस्तक में जैन-धर्म के माध्यम से जीवन और जगत् को समझने का प्रयत्न है। जीवन को समझने के लिए जगत् को समझना जरूरी है और जगत् को समझने के लिए जीवन का समझना जरूरी है। दोनों मापेक्षता हैं, परस्परता है इसलिए एक को समझे बिना दूसरे को समझा नहीं जा सकता। जगत् अस्तित्ववादी अवधारणा है और जीवन व्यवहारवादी अथवा उपयोगितावादी अवधारणा। जगत् का स्वरूप है—द्रव्यवाद। द्रव्य की मीमांसा करने वाले का दर्शन विशुद्ध, दृष्टिकोण समीचीन बन जाता है। दर्शन-शुद्धि आचार-शुद्धि का स्रोत बनती है। यह वचन मननीय है—

ददिए दसणसुद्धी दसणसुद्धस्त चरण तु ।

साध्वी कनकश्री ने द्रव्यवाद और आचारवाद—दोनों को एक माला में पिरोने का प्रयत्न किया है। यह साधक प्रयत्न है। जीवन और दर्शन की दो दिशागामिता वांछनीय नहीं है। अपेक्षा है जीवन-दर्शन की। दर्शन-भूय जीवन (आचार और व्यवहार) और जीवन-भूय दर्शन समस्या का समाधान नहीं बनते। जीवन और दर्शन का समन्वित प्रयोग नहीं धारा हो सकती है, किन्तु आज वह उपेक्षित हो रही है। दर्शन-शास्त्र और आचार-शास्त्र के मध्य लक्ष्मण-रेखा खींचना सगत अभियोजन नहीं है।

गणाधिपति श्री तुलसी ने साध्वी-समाज को अध्ययन, अध्यापन और लेखन की दिशा में नई गति दी है। फलतः अनेक साध्वियों के चरण इस दिशा में आगे बढ़े हैं। साध्वी कनकश्री का हिन्दी भाषा पर अधिकार है और दर्शन एवं आचार के विषय का अध्ययन है। उनकी लेखनी ने भाषा और विषय-दोनों की सम्यग् योजना की है। विकास के लिए बहुत अवकाश है, किन्तु जो है, वह क्षपने आप में रमणीय है, पाठक के लिए उपयोगी है।

३० × ९६

जैन विषय भारती,

साहू (राज०)

आचार्य महाप्रज्ञ

पुरोवाक्

जैन तत्त्व-दर्शन भारतीय चिंतन और आध्यात्मिक जीवन-शैली का प्रतिनिधि दर्शन है। वह शुद्ध अर्थ में मोक्ष-दर्शन है, अध्यात्म-दर्शन है, फिर भी उसका तत्त्व-ज्ञान अत्यंत वैज्ञानिक है। जैन-दर्शन की अवधारणा में मौलिन-तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव अथवा जड़ और चेतन। इन दोनों का संयोग ही संसार है तथा वियोग मोक्ष है। मोक्ष का मूल है समय-साधना। उसके लिए जीव-अजीव का बोध आवश्यक है। जैन तत्त्व-विद्या का पल्लवन पृथ्वी दो ध्रुवों से हुआ है। शास्त्रकार लिखते हैं—

त्रैकाल्य द्रव्यपट्टक, नवपदसहित जीवपट्टकायलेख्याः,
पञ्चान्ये चास्तिकाया यत समितिगति ज्ञान चारित्र्य भेदाः ।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितं प्रोक्तं महद्भि रीशं,
प्रत्येति श्रद्दघाति स्पृशति च नतिमान् यः स वै शुद्धिदृष्टिः ॥

त्रैकालिक अस्तित्व वाले छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पड़जीव निकाय, छह विशेष्य, पञ्चास्तिकाय यत, समिति, गतिचक्र, ज्ञान और चारित्र्य—यह मोक्ष-मूलक ज्ञान लोकत्रय पूजित अर्हंतों द्वारा प्रतिपादित है। जो प्राणी इस धर्म पर प्रतीति करता है, श्रद्धा करता है और इसका पालन करता है, वही शुद्ध जीवनदृष्टि संपन्न है।

नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए अपेक्षित है जैन तत्त्व-विद्या के साथ युवा-मनोषा की सहायिता स्थापित हो, इससे आध्यात्मिक, सदाचार सम्पन्न, जिज्ञासु और तत्त्वज्ञ व्यक्तित्वों का निर्माण हो सकेगा है। जैनधर्म और दर्शन की मौलिकता सुरक्षित रहे, स्वाध्याय की एक विनिष्ट शैली का जन्म हो, इस दृष्टि से गणाधिपति पूज्य गुरदेव श्री तुलसी श्रावक नमाज में स्वाध्यायशीलता और तत्त्वचि का अलस पट रोपना चाहते हैं।

परमपूज्य गुरदेव श्री की सचेतन ननिधि में चलने वाली लोक भगनवारी विविध आयामी प्रवृत्तियों की घटकन है— जैन विश्व भारती। यह जैनधर्म, दर्शन, तत्त्व-विद्या, एक भारतीय प्राच्य विद्याओं के अध्ययन, आस्थापन तथा अनुसंधान का अनुठा केन्द्र है। जैन-संस्कार निर्माण की दृष्टि से जैन विश्व भारती के अर्थात् समय-समृद्धि समाज के तत्त्वावधान में जैन-विद्या का नव यादिक एक पत्राचार-पाठमाला का द्विवाधिक पाठ्यक्रम निर्धार-

रिक्त है। मुख्यवर्तित परीक्षाओं का क्रम चालू है। इन परीक्षाओं में देश भर के सैकड़ों केंद्रों से हजारों छात्र-छात्राएँ प्रतिवर्ष सम्मिलित होते हैं।

पूज्यपाद गुरुदेव श्री एव श्रद्धेय आचार्यप्रवर ने अमीम अनुग्रह कर योगश्रेम वर्षों के पूर्व पत्राचार पाठमाला की पाठ्य सामग्री लिखने का निर्देश मुझे प्रदान किया। इमे में अपना विशेष सौभाग्य मानती हूँ। सन् १९८९-९० में ये पाठ तैयार हुए। पाठ्यक्रम में स्वीकृत/प्रयुक्त भी हो गये।

सन् १९९१ गुरुदेव श्री का जयपुर प्रवास। आदरास्पद महाश्रमणी जी का नयेत मिला जैनधर्म को आधुनिक भाषा-शैली और सदर्भों में प्रस्तुत करने की अपेक्षा है। यद्यपि जैनधर्म को समग्रता से जानने/समझने हेतु हमारे धर्म गद्य में काफी साहित्य लिखा गया है, किंतु विषय की गभीरता और भाषा की जटिलता के कारण जन-सामान्य उसका पूरा लाभ नहीं उठा सकता। आज के पढ़े-लिखे युवक-युवतियों का जैन तत्त्व-दर्शन में प्रवेश हो, यह भी जरूरी है। इन दृष्टियों से पत्राचार पाठमाला के लेखों का अच्छा उपयोग हो सकता है। यदि वे पुस्तक रूप में एकत्र उपलब्ध हो जाए तो परीक्षार्थियों के अतिरिक्त आम पाठक को भी सुविधा हो सकती है। माध्वीप्रमुखाश्रीजी की इसी प्रेरणा की निष्पत्ति है प्रस्तुत पुस्तक "जैनधर्म जीवन और जगत्"। इसके माध्यम से मैंने जैनधर्म के विचार और जानार पक्ष को जीवन मूल्यों एवं जागतिक सदर्भों में सरल भाषा-शैली में प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयत्न किया है।

मेरे अध्ययन, अनुशीलन एवं लेखन में आधारभूत ग्रन्थ रहे हैं महाशयिण पूज्यपाद गुरुदेव श्री तुलसी द्वारा रचित जैन मिह्वात दीपिका, श्री मिश्रु ग्यापकणिका, जैन तत्त्व-विद्या, गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का इत्यादि तथा महान् दासनिज आचार्यश्री महाप्रज्ञ की उत्कृष्ट कृतियाँ— गयोधि, जैनदर्शन मान और नीमाना आदि। ये ग्रंथ प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय रसादीप की भाँति मेरा मार्ग-दर्शन करते रहे हैं। मैंने इनका भरपूर उपयोग ही किया है। उनमें लिए श्रद्धाप्रणत हूँ आराध्य द्वयी के प्रति। मुनि श्री एतद्गुमारणी द्वितीय की पुस्तक विष्व प्रहेलिका तथा अन्य विद्वानों/परीक्षितों के ग्रन्थों/विषयों का भी यथावश्यक उपयोग किया है। उनके प्रति भी श्रद्धा-सन्मति ज्ञानि करती हूँ।

दायरे काफी व्यापक बन गये हैं । इन नम्बान से प्रकाशित होने वाले साहित्य का भी अपना मूल्य है । “जैनधर्म जीवन और जगत्” जैन दर्शन के प्रशिद्धों के लिए मदर्भ ग्रन्थ के रूप में उपयोगी सिद्ध हुआ है, इसका प्रमाण है पुस्तक की मांग और लोकप्रियता । यह किन्हीं भी लेखक की सफलता का ‘माइन स्टोन’ माना जा सकता है । पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों की मांग पूरी करेगा, वही मेरी अगली साहित्य-यात्रा की नयी सभायनाएँ भी नयी दिनाएँ उद्घाटित करेंगी । इसका स्रोत है गुरुकृपा का प्रसाद और मगनमय आशीर्वाद ।

साध्वी कनकश्री

१	ज्ञान है आलोक अगम का	१
२	जैनधर्म : एक परिचय	७
३	त्रिपदी—अस्तित्व के तीन आयाम	१२
४	जैनधर्म में तत्त्ववाद	१७
५	जैनधर्म में जीव-विज्ञान	२१
६	मूढम जीव-जगत् और विज्ञान	२५
७	जन्मान्तर-यात्रा (गतिचक्र)	२८
८	शक्ति-स्रोत—पर्याप्ति	३३
९.	जीवन-शक्ति—प्राण	३९
१०	शरीर और उमका आध्यात्मिक मूल्य	४५
११	पूर्वजन्म और पुनर्जन्म	५१
१२	पुण्य और पाप	६१
१३	बन्धन और उसके हेतु	६६
१४	मोक्ष और उसके उपाय	७१
१५	जैनदर्शन में द्रव्यवाद	७६
१६	जैनदर्शन में पुद्गल	८१
१७	जैनदर्शन में आत्मवाद	९०
१८	जैनदर्शन में परमवाद	९६
१९	जैनदर्शन में अनेकतयाद	१०३
२०	जैनदर्शन में स्वाद्वाद	१०९
२१	जैनधर्म में जातिवाद का आधार	११४
२२	रतत्रयी — जैन माधना का आधार	१२०
२३	जैन गृहस्थ की आचार-संहिता	१२५
२४	जैन मुनि की आचार-संहिता	१३१
२५	जैन मुनियों की पद-यात्रा और उसकी उपसन्धियाँ	१३८
२६	आत्म-दायना—इतिहास यात्रा	१४६
२७	पैतृकी गणतंत्र के अष्टसत्तमात् चेटक	१५२
२८	महान् जैन नरेश भगवत्-सत्तात् श्रेणिक	१५६



ज्ञान है आलोक अगम का

दुःख-मुक्ति का उपाय है विद्या और आचरण। अविद्यावान प्राणा दुःख-परम्परा का मजक होता है। आचरण हमारा गन्तव्य-पथ है। विद्या है रास्ता दिखाने वाला प्रकाश। वह जीवन के यात्रा-पथ में सदा साथ रहना है और पथिक के आगे-आगे चलता है।

एक युवा यात्री को सघन वन पार कर दूरवर्ती कस्बे में जाना था। उबलझावट पहाड़ी रास्ता। अगला गाव दूर तक दिखाई नहीं दे रहा था। गुरमई साभ्र उतर आई। युवक का दिल घटक रहा था। लया रास्ता, चारों ओर फंला निर्जन वन, रात का समय, यह डरावना अधेरा, मेरे पास सिर्फ छोटी-मी टॉर्चें, कैसे पार कर सकूंगा इस विषम मार्ग को ?

दिमाग में विचारों की उघन-पुघन, भय और आशंका, दिल में घटकन, तन-बदन में पसीना, झनझनाहट। एक कदम भी आगे बढ़ना बठिन। यह निराप-हताश हो गरी बँठ गया। शरीर शिथिल, मन तनाव-ग्रस्त। अधेरे की चादर ओढ़े, महमा-दुवका-ना वह युवक, एक हारे-पके वृद्ध की भांति बँठा था।

उधर से उसके पास से एक वृद्ध व्यक्ति गुजरा। उन और आरुति में घूटा होते हुए भी मन में तरुण, गति में उत्साह की झनक, आँखों में शिष्याम की चमक। लमीप आते ही युवक में पूछा—क्या जान है ? रास्ते में ही कैसे बँठ गए ? युवक ने कहा—क्या कम् ? मुनीवन में पिर गया हूँ। रास्ता लभ्या, अधेरा महरा और प्रकाश इतना-ना। इस टॉर्चें का प्रकाश तो दो-चार कदमों से अधिक साथ नहीं देगा। कैसे अंधेरा गाव तक जा सकूंगा ?

रहता है। भाण पयासयर—ज्ञान हमारे पथ को आलोकित करता है। अत-
श्चेतना को जगाता है।

भारतीय अध्यात्म के आचार्यों ने अथवा प्रवक्ताओं ने धर्म को मुक्ति का साधन माना है। धर्म क्या है ? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए जैन आगमों में बताया गया, धर्म दो प्रकार का होता है—श्रुत धर्म और चारित्र्य धर्म। इस वर्गीकरण से धर्म की परिभाषा फलित होती है। यानी श्रुत का, शास्त्रों का अध्ययन और आचार का अनुशीलन ही धर्म है। सामान्यतः सयम, शील, सदाचार को धर्म माना जाता है। पर भगवान महावीर ने एक नई दृष्टि दी, वह है—“नाणस्स सारो आयारो”—आचार तो ज्ञान का सार है। यदि ज्ञान नहीं तो आचार का अवतरण कहा से होगा ? आचार का स्रोत ज्ञान ही है। इसीलिए ज्ञान की प्राप्ति और उसका उत्तरोत्तर विकास मानवीय जीवन का सर्वोच्च घोष है।

उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में यह चिंतन उभरता है कि जिन विषयों का ज्ञान हमारे कार्य-क्षेत्र में उपयोगी होता है, हमें अधिक से अधिक साधन उपलब्ध करा सकता है, हमारे कार्य-क्षेत्र की सफलता का हेतु बनता है, उन विषयों को भली-भांति जानना चाहिए। किन्तु तत्त्व ज्ञान तत्त्व विद्या से जन-सामान्य को क्या लाभ हो सकता है ? तत्त्व उनके लिए है जो आत्मा-परमात्मा तथा जीवन और जगत् के सूक्ष्म रहस्यों को जानना चाहे। घर-गृहस्थी का संचालन तत्त्व-ज्ञान से नहीं होता। बात सही है, पर हम हमारे वास्तविक जीवन में क्या होना चाहते हैं, क्या करना चाहते हैं, इससे पहले हमारी दृष्टि का निर्धारण—परिमार्जन आवश्यक है। तत्त्व-विद्या हमारे सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करती है। सम्यक् दृष्टिकोण ही हमारे आचार-व्यवहार की बुनियाद है।

आचार-दर्शन आदर्श मूलक विज्ञान है। वह जब नैतिक जीवन का आदर्श निर्धारित करने और परम ध्येय के साथ उसका सबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है, तब वह तत्त्व-चर्चा का विषय बन जाता है।

तत्त्व-मीमांसा सत् के स्वरूप पर विचार करती है। जबकि आचार-दर्शन जीवन-व्यवहार में मूल्यों का निर्धारण करता है। विचार के ये दोनों क्षेत्र एक दूसरे के बद्ध निकट हैं। जब हम किसी एक क्षेत्र में गहराई से प्रवेश करते हैं तो दूसरे की सीमा का अतिक्रमण कर उसमें भी प्रविष्ट होना पड़ता है।

मैकेंजी का कथन है कि जब हम यह पूछते हैं कि मानव-जीवन का मूल्य क्या है ? तब हमें यह भी पूछना पड़ता है कि मानव-व्यक्तित्व का तात्त्विक स्वरूप क्या है ? वास्तविक जगत् में उसका क्या स्थान है ? इन

सब प्रश्नों का समाधान तत्त्व-मीमांसा के ठीक धरातल से ही उपलब्ध हो सकता है।

आचार-दर्शन और तत्त्व-मीमांसा के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि—“कोई भी आचार मात्र तत्त्व-दर्शन पर या धर्म-ग्रन्थ के एक दार्शनिक सिद्धांत पर अवश्य आश्रित होता है। धर्म मात्र एक संबंध में हमारी जैसी अवधारणा होती है, उसके अनु रूप ही हमारा आचरण होता है। दर्शन और आचरण साथ-साथ चलते हैं।

मान्य में जब तक तत्त्व के स्वरूप या जीवन के आदर्श का बोध नहीं हो जाता, तब तब आचरण का मूल्यांकन भी संभव नहीं। क्योंकि यह मूल्यांकन तो धरमद्वारा या सत्य के नैतिक आदर्श के तर्जुमे में ही किया जा सकता है। यही एक ऐसा विद्वत् है, जहां तत्त्व-मीमांसा और आचार-दर्शन मिलते हैं। अब दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

मानवीय धर्मता के तीन पक्ष हैं—

(१) आचारमय (२) अनुभूत्यात्मक (३) प्रियात्मक।

जब मानवीय धर्मता के भी तीन विभाग हो जाते हैं—

(१) तत्त्व दर्शन (२) धर्म-दर्शन (३) आचार-दर्शन।

एक तीनों की विशेष-रूप भिन्न नहीं है। मात्र अध्ययन के पक्षों की भिन्नता है। जब व्यक्ति किसी धर्म की प्रति के लिए विभिन्न प्रकार का प्रयास करता है तब तब एक संभव, उसकी प्रियता और गाय-वृद्धि इन सब पक्षों पर समझता ही विचार किया जाता है। इसलिए ये तीनों जुड़े हुए हैं।

रहता है। नाण पयासयर—ज्ञान हमारे पथ को आलोकित करता है। अत-
श्चेतना को जगाता है।

भारतीय अध्यात्म के आचार्यों ने अथवा प्रवक्ताओं ने धर्म को मुक्ति का साधन माना है। धर्म क्या है? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए जैन आगमो में बताया गया, धर्म दो प्रकार का होता है—श्रुत धर्म और चारित्र्य धर्म। इस वर्गीकरण से धर्म की परिभाषा फलित होती है। यानी श्रुत का, शास्त्रों का अध्ययन और आचार का अनुशीलन ही धर्म है। सामान्यतः सयम, शील, सदाचार को धर्म माना जाता है। पर भगवान महावीर ने एक नई दृष्टि दी, वह है—“नाणस्स सारो आयारो”—आचार तो ज्ञान का सार है। यदि ज्ञान नहीं तो आचार का अवतरण कहा से होगा? आचार का स्रोत ज्ञान ही है। इसीलिए ज्ञान की प्राप्ति और उसका उत्तरोत्तर विकास मान-वीय जीवन का सर्वोच्च घोष है।

उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में यह चिंतन उभरता है कि जिन विषयों का ज्ञान हमारे कार्य-क्षेत्र में उपयोगी होता है, हमें अधिक से अधिक साधन उपलब्ध करा सकता है, हमारे कार्य-क्षेत्र की सफलता का हेतु बनता है, उन विषयों को भली-भांति जानना चाहिए। किन्तु तत्त्व ज्ञान तत्त्व विद्या से जन-सामान्य को क्या लाभ हो सकता है? तत्त्व उनके लिए है जो आत्मा-परमात्मा तथा जीवन और जगत् के सूक्ष्म रहस्यों को जानना चाहे। घर-गृहस्थी का संचालन तत्त्व-ज्ञान से नहीं होता। बात सही है, पर हम हमारे वास्तविक जीवन में क्या होना चाहते हैं, क्या करना चाहते हैं, इससे पहले हमारी दृष्टि का निर्धारण—परिमार्जन आवश्यक है। तत्त्व-विद्या हमारे सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करती है। सम्यक् दृष्टिकोण ही हमारे आचार-व्यवहार की बुनियाद है।

आचार-दर्शन आदर्श मूलक विज्ञान है। वह जब नैतिक जीवन का आदर्श निर्धारित करने और परम ध्येय के साथ उसका सबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है, तब वह तत्त्व-चर्चा का विषय बन जाता है।

तत्त्व-मीमांसा सत् के स्वरूप पर विचार करती है। जबकि आचार-दर्शन जीवन-व्यवहार में मूल्यों का निर्धारण करता है। विचार के ये दोनों क्षेत्र एक दूसरे के बहुत निकट हैं। जब हम किसी एक क्षेत्र में गहराई से प्रवेश करते हैं तो दूसरे की सीमा का अतिक्रमण कर उसमें भी प्रविष्ट होना पड़ता है।

मैकेंजी का कथन है कि जब हम यह पूछते हैं कि मानव-जीवन का मूल्य क्या है? तब हमें यह भी पूछना पड़ता है कि मानव-व्यक्तित्व का तात्त्विक स्वरूप क्या है? वास्तविक जगत् में उसका क्या स्थान है? इन

सब प्रश्नों का समाधान तत्त्व-मीमासा के ठोस धरातल से ही उपलब्ध हो सकता है ।

आचार-दर्शन और तत्त्व-मीमासा के पारस्परिक सबध को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि—“कोई भी आचार शास्त्र तत्त्व-दर्शन पर या चरम-सत्य के एक दार्शनिक सिद्धांत पर अवश्य आश्रित होता है । चरम सत्य के सबध में हमारी जैसी अवधारणा होती है, उसके अनुरूप ही हमारा आचरण होता है । दर्शन और आचरण साथ-साथ चलते हैं ।

वास्तव में जब तक तत्त्व के स्वरूप या जीवन के आदर्श का बोध नहीं हो जाता, तब तक आचरण का मूल्यांकन भी संभव नहीं । क्योंकि यह मूल्यांकन तो व्यवहार या सकल्प के नैतिक आदर्श के सदृश में ही किया जा सकता है । यही एक ऐसा बिंदु है, जहां तत्त्व-मीमासा और आचार-दर्शन मिलते हैं । अतः दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता ।

मानवीय चेतना के तीन पक्ष हैं—

(१) ज्ञानात्मक (२) अनुभूत्यात्मक (३) क्रियात्मक ।

अतः दार्शनिक अध्ययन के भी तीन विभाग हो जाते हैं—

(१) तत्त्व-दर्शन (२) धर्म-दर्शन (३) आचार-दर्शन ।

इन तीनों की विषय-वस्तु भिन्न नहीं है । मात्र अध्ययन के पक्षों की भिन्नता है । जब व्यक्ति किसी ध्येय की पूर्ति के लिए विशिष्ट प्रकार का प्रयत्न करता है, तब लक्ष्य के स्वरूप, उसकी क्रियाशीलता और कार्य-पद्धति इन सब पक्षों पर समग्रता से विचार किया जाता है । इसलिए ये तीनों जुड़े हुए हैं ।

जीवन के विभिन्न पक्ष होते हुए भी एक सीमा के बाद तत्त्व-दर्शन, धर्म-दर्शन और आचार-दर्शन तीनों एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाते हैं । क्योंकि जीवन और जगत् एक ऐसी सगति है, जिसमें सभी तथ्य इतने सापेक्ष हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता ।

लगभग सभी भारतीय दर्शनों की यह प्रकृति रही है कि आचार-शास्त्र को तत्त्व या दर्शन से पृथक् नहीं करते । जैन, बौद्ध, वेदान्त, गीता आदि दर्शनों में कहीं भी तत्त्व और जीवन-व्यवहार में विभाजक रेखा नहीं मिलती ।

जैन विचारकों ने तत्त्व, दर्शन और आचार—जीवन के इन तीनों पक्षों को अलग-अलग देखा अवश्य है, पर इन्हें अलग किया नहीं । ये सभी आपस में इतने घुले-मिले हुए हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग करना संभव भी नहीं है । आचार-मीमासा को धर्म-मीमासा और तत्त्व-मीमासा से न अलग किया जा सकता है और न उनसे अलग कर उसे समझा जा सकता है ।

उमास्वाति के इस मूल्यवान सूत्र से यही ध्वनित होता है—

“सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चारित्र्याणि मोक्ष-मार्गः ।” (तत्त्वार्थसूत्र १।१)

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य—इन तीनों का समन्वित रूप ही मोक्ष-मार्ग है। एक में मोक्ष-मार्ग बनने की क्षमता नहीं है। तीनों मिलकर ही मोक्ष के हेतु हो सकते हैं। कितना घनिष्ट सवध है तीनों का। यहाँ सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य क्रमशः धर्म-श्रद्धा तत्त्व ज्ञान और आचरण के ही प्रतीक हैं। जहाँ मैकेजी आदि पश्चिमी विचारक नैतिक जीवन में आचार पक्ष को ही सम्मिलित करते हैं, वहाँ जैन विचारक उक्त तीनों पक्षों की अनिवार्यता मानते हैं। यही कारण है जैन आचार-दर्शन का अध्ययन करते समय तत्त्व-मीमांसा और धर्म-मीमांसा को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

जैसा कि हमने जाना आचार का स्रोत ज्ञान नहीं है। ज्ञान की परिणति आचार है। इसलिए आचार की शुद्धि, व्यवहार का परिष्कार और शुभ सस्कारों के निर्माण हेतु ज्ञान पक्ष की भूमिका को गौण नहीं किया जा सकता।

यद्यपि वर्तमान युग में ज्ञान-विज्ञान की मूल्य-प्रतिष्ठा स्वतः सिद्ध है। उसे प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता नहीं है। हम जिस युग में जी रहे हैं, वह बौद्धिक विकास के उत्कर्ष का युग है। नूतन-पुरातन विद्या-शाखाओं का प्रचार-प्रसार द्रुत गति से हो रहा है। शिक्षा-जगत् में नित नए प्रयोग हो रहे हैं, जिससे मानव-मस्तिष्क की क्षमताओं के विकास की अनन्त सभावनाएँ उजागर हो रही हैं। फिर भी लगता है आज शैक्षिक स्तर पर जो कुछ हो रहा है, वह पर्याप्त नहीं है। वर्तमान का विद्यार्थी मात्र पुस्तकीय ज्ञान में अटका हुआ है। उसका गतव्य है—विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय। उसका प्राप्तव्य है—ढेर सारी डिग्रियाँ। यह भी छिपा हुआ नहीं है कि डिग्रियों की चकाचौंध में कितना अधकार पल रहा है। उपाधियों के भार के नीचे विवेक-चेतना दबी जा रही है।

“बुद्धेः फलं तत्त्व विचारणा च”— बुद्धि का फल है तत्त्व का अनुचितन, तत्त्व की खोज। तत्त्वग्राही बुद्धि व्यक्तित्व-विकास को ठोस धरातल दे सकती है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में तत्त्व-दर्शन उपेक्षित हो रहा है। जीवन-मूल्यों तथा सस्कृति के मौलिक तत्त्व को उपेक्षित कर चलने वाला समाज स्वस्थ और तेजस्वी नहीं बन सकता, इस दृष्टि ने देश की भावी-पीढ़ी को सस्कारी बनाने के लिए उसे भारतीय धर्मों तथा विभिन्न दर्शनों का ज्ञान कराना आवश्यक है।

जैन-दर्शन शुद्ध अर्थ में मोक्ष-दर्शन है, अध्यात्म का दर्शन है, फिर भी उसका ज्ञान अत्यन्त वैज्ञानिक है। अपेक्षा है वैज्ञानिक सदर्थों में उसे

प्रस्तुत किया जाए। इसके लिए जरूरी है जैन तत्त्व-विद्या को आधुनिक शिक्षा-पद्धति के साथ जोड़कर उसे समग्रता प्रदान की जाए। जैन शिक्षा-पद्धति की सर्वांगीणता है—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। आज की भाषा में यह सिद्धांतिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण नाम से सुपरिचित है।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में तेरापथ में जहाँ अध्यात्म-विज्ञान, मनोविज्ञान, व्यावहारिक-मनोविज्ञान, जीवन-विज्ञान आदि अनेक विद्या शाखाओं का आधुनिक सदर्थों में अध्ययन हो रहा है, वहाँ जैन तत्त्व-विद्या का भी अध्ययनपूर्वक प्रशिक्षण दिया जा रहा है। तत्त्व-विद्या का प्रशिक्षण हमारे शैक्षिक क्रम में प्रथम सोपान है। क्योंकि तत्त्व-दर्शन की नींव पर प्रतिष्ठित जीवन में अद्भुत चमक होती है। तत्त्वज्ञ व्यक्ति का समग्र व्यवहार अपूर्व ढंग का होता है। तत्त्वज्ञ व्यक्तियों में आध्यात्मिकता, आचार-निष्ठा और जिज्ञासु वृत्ति के रत्नदीप सदा-सर्वदा ज्योतिष रहते हैं। डॉ० सर्वपल्ली-राधाकृष्णन् के अनुसार “विश्व के रहस्यमय अन्तिम तत्त्व को खोजने की दिशा में दर्शन, सिद्धांत एवं आचार-शास्त्र से भी अधिक मूल्यवान है—मनुष्य का तात्त्विक प्रयत्न। तत्त्व-ज्ञान ही सत्य का प्रतिपादक है। सत्य से अनुप्राणित आचार और व्यवहार ही जीवन को ऊँचाइया प्रदान कर सकता है।”

जैसे वत्ख का बच्चा कभी पानी में नहीं डूबता, उफनती नदी की क्षुब्ध तरंगों पर भी वह तैरता रहता है, वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति का चित्त विपरीत परिस्थितियों में भी क्षुब्ध नहीं होता। चरक सहिता में लिखा है—

“लोके विततमात्मानं, लोक चात्मनि पश्यतः।

परावरदृशः शान्तिं ज्ञानमूला न नश्यति ॥

जो लोक में आत्मा को और आत्मा में लोक को व्याप्त देखता है, उस तत्त्वज्ञानी की ज्ञानमूलक शांति कभी भंग नहीं होती। क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति की मनोनियामिका शक्ति प्रबल होती है, इसलिए वह आवेश और उत्तेजना के वशीभूत होकर अपना सतुलन नहीं खोता।

जैन-दर्शन न केवल ज्ञानवादी है और न केवल आचारवादी। वह समन्यवादी है। जैन-दृष्टि में ज्ञान और आचार दोनों का समान महत्त्व है। वह मानता है आचार-शून्य ज्ञान जहाँ पत्र-पुष्प-शून्य वृक्ष है, वहाँ ज्ञान शून्य आचार जड़ रहित वृक्ष है। फिर भी अर्हंतवाणी का घोष “पढम नाण तओ दया” इस ओर संकेत करता है कि ज्ञान के द्वारा ही हम हित में प्रवृत्त होते हैं, अहित से निवृत्त होते हैं और किसी भी परिस्थिति में मध्यस्थ रहने की क्षमता अर्जित करते हैं। निश्चय दृष्टि से कहा जाए तो तत्त्व ज्ञान ही अगम का आलोक पथ है।

जैसे घागे मे पिरोई हुई सुई कही गिर भी जाए तो भी गुम नहीं होती, आसानी से मिल जाती है, वैसे ही तत्त्व-विद्या-सम्पन्न व्यक्ति अपने पथ से, अपने लक्ष्य से कभी भटकता नहीं। कदाचित् भ्रमित हो भी जाए तो तत्त्व-ज्ञान के सहारे पुन सही रास्ते पर आ जाता है। अपने आचार और व्यवहार को परिष्कृत करता रहता है। इस दृष्टि से व्यावहारिक जीवन मे भी तत्त्व-विद्या का मूल्य कम नहीं हो सकता।

जैन धर्म : एक परिचय

धर्म आत्मा में जाने का प्रवेश-द्वार है। आत्मा का स्पर्श तब होता है, जब वीतराग-चेतना जागती है। राग-चेतना और द्वेष-चेतना की समाप्ति का क्षण ही वीतराग-चेतना के प्रस्फुटन का क्षण है। जैन-धर्म की सारी साधना वीतराग की परिष्कार है।

“जैन” शब्द का मूल “जिन” है। “जिन” का अर्थ है जीतने वाला या ज्ञानी। अतः अपने आपको जीतने वालों का धर्म जैन धर्म है। अपने आपको जानने वालों का धर्म जैन-धर्म है।

जैन-धर्म के प्रणेता और प्रारम्भ

जैन-धर्म के प्रणेता जिन कहलाते हैं। जिन होते हैं—आत्म-विजेता, राग-विजेता, द्वेष-विजेता और मोह-विजेता। जैन परम्परा में “जिन” शब्द की अतिरिक्त प्रतिष्ठा है। हो सकता है प्राचीनकाल में यह “चिन” शब्द से जाना जाता रहा हो। प्राकृत भाषा में “च” का “ज” हो जाता है। इसलिए यहाँ भी सभावना की जाती है कि “जिन” का मूल रूप “चिन” है। इस दृष्टि से “जिन” शब्द को दो अर्थों का सवाहक माना जा सकता है। जिन-ज्ञानी और जिन-विजेता। आवश्यक में ज्ञाता और ज्ञापक रूप में—अर्हंतों की स्तुति की गई है।^१

जिन का एक अर्थ है—प्रत्यक्षज्ञानी, अतीन्द्रियज्ञानी। वे तीन प्रकार के होते हैं—१ अवधि ज्ञान जिन, २ मन पर्यवज्ञान जिन और ३ केवल-ज्ञान जिन।^१ इससे भी जिन का अर्थ ज्ञाता ही सिद्ध होता है।

जैन-धर्म के प्रणेता सर्वज्ञ और वीतराग होते हैं। वे प्रकाश, शक्ति और आनन्द के अक्षय स्रोत होते हैं। उनकी आंतरिक शक्तियाँ—अर्हताएँ समग्रता से उद्भाषित हो जाती हैं, इसलिए वे अर्हत् कहलाते हैं।

चैतन्य की अखड ली को आवृत्त करने वाले तत्त्व हैं—मूर्च्छा और अज्ञान। जिसकी आंतरिक मूर्च्छा का वलय टूट जाता है, उसके ज्ञान का आवरण भी क्षीण हो जाता है। ज्ञान की अखड ज्योति प्रज्वलित होते ही व्यक्ति सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बन जाता है। वह सत्य को उसकी परिपूर्णता में

१. आवश्यकसूत्र, सक्कत्युई “जिणाणजावयाण ।”

२ ठाण ३।५१२ तओ जिणा पणत्ता, त जहा—ओहिणाणजिणे, मणपज्जवणाणजिणे, केवलणाणजिणे ।

जानने-देखने लगता है। “जिन” सर्वज्ञ होते हैं। केवली होते हैं। वे वस्तु-जगत् के प्रति प्रियता-अप्रियता की सवेदना-रहित, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा भाव में अवस्थित रहते हैं।

सर्वज्ञ को अनतचक्षु कहा गया है।^१ उनकी निर्मल ज्ञान-चेतना में अनन्त धर्मात्मक वस्तु समग्रता से प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए वे सत्य-द्रष्टा और सत्य के प्रतिपादक होते हैं। वे जन्-कल्याण हेतु प्रवचन करते हैं। उनके प्रवचन का उद्देश्य होता है—

- ० प्रकाश का अवतरण
- ० बन्धन-मुक्ति
- ० आनन्द की उपलब्धि।

जैन-धर्म बहुत प्राचीन है, वह वेदों की तरह अपौरुषेय या अव्याकृत नहीं है।

वह वीतराग—सर्वज्ञ-पुरुषों द्वारा प्रणीत है।

इस युग के आदि धर्म-प्रवर्तक थे— भगवान् श्री ऋषभदेव।

ऋषभदेव का काल-निर्णय आज की सख्या में नहीं किया जा सकता। वे बहुत प्राचीन हैं। वे युग-प्रवर्तक थे, मानवीय सभ्यता के पुरस्कर्ता थे। वे इस युग के प्रथम राजा बने। लम्बे समय तक राज्य-तंत्र का संचालन कर उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं का सूत्रपात किया। वे मुनि बने। दीर्घकालीन साधना की। घोर तप तपा। कैवल्य को उपलब्ध हुए। सर्वज्ञ-मर्वदर्शी बने। धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। धर्म-तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर कहलाए। ऋषभ इस युग के प्रथम तीर्थंकर थे और श्रमण भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर।^२ जैन-धर्म के वाईस तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में हुए। पाशवं और महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं। तीर्थंकर वह होता है जो स्वयं प्रकाशित होकर प्रकाश-पथ का निर्माण करता है। वह स्वतंत्र चेतना का स्वामी होता है। अतः किसी दूसरे का अनुगमन या अनुकरण नहीं करता। इसीलिए प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग के आदिकर्ता होते हैं। युग-प्रणेता होते हैं। अतः देश और काल की सीमाओं से परे रहकर यह कहा जा सकता है कि जैन-धर्म के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं। वे जिन, वीतराग, अर्हत्, सर्वज्ञ आदि रूपों में वदित-अभिनदित होते हैं। भगवान् महावीर इस युग के अंतिम तीर्थंकर थे, अतः वर्तमान की जैन परम्परा का भगवान् महावीर से गहरा मन्व-ध है।

१ सूयगडा, ६।६।

२ आक्षय्यक सूत्र १३ निग्गय-पावयणे थिरीकरण सुत्त — उसभाइ महावीर पज्जवमाणान् ।

नामकरण

जैन-धर्म के विभिन्न गुणों में विभिन्न नाम रहे हैं। इसके प्राचीन नाम हैं—निर्ग्रन्थ प्रवचन, अर्हत् धर्म, समता धर्म और श्रमण धर्म। अर्वाचीन नाम है—जिनशासन या जैनधर्म। इनमें भी बहुप्रचलित और बहुपरिचित नाम जैन-धर्म ही है। जैन-धर्म नाम भगवान् महावीर के बाद में ही प्रचलित हुआ ऐसा उत्तरवर्ती साहित्य के आधार पर सिद्ध होता है।

जैन कौन ?

जिन प्रवचन ही जैन-धर्म का मूल आधार है। जिन वाणी पर आस्था रखने वाला तथा उन शिक्षा-पदों का आचरण करने वाला समाज जैन समाज कहलाता है। जैसे बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म बौद्ध धर्म, ईसा द्वारा उपदिष्ट धर्म ईसाई धर्म कहलाता है, वैसे ही "जिन" या अर्हत् द्वारा प्रवर्तित धर्म जैन-धर्म अथवा अर्हत् धर्म कहलाता है। जैसे शिव और विष्णु को इष्ट मानकर चलने वाले शैव और वैष्णव कहलाते हैं, वैसे ही अर्हत् या जिन को इष्ट मानकर चलने वाले जैन कहलाते हैं।

सार्वभौम धर्म

यहां एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जैसे बुद्ध, ईसा, शिव या विष्णु व्यक्तित्व-वाचक नाम हैं, वैसे जिन या अर्हत् शब्द व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हैं। जैनधर्म में व्यक्ति-पूजा का कोई स्थान नहीं है। वह व्यक्ति की अर्हताओं को, योग्यताओं को मान्यकर, उसकी पूजा-प्रतिष्ठा में विश्वास रखता है।

जिसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और शक्ति के आवारक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, चैतन्य का परम स्वरूप प्रकट हो जाता है, वह कोई भी व्यक्ति अर्हत् की श्रेणी में आ सकता है।

जैन-धर्म सिर्फ संप्रदाय और परम्परा ही नहीं, बल्कि अपने आपको जीतने और जानने वालों का धर्म है। इसका प्रमाण है—जैन-धर्म का नमस्कार महामंत्र और चतु शरण सूत्र।

नमस्कार महामंत्र

णमो अरहताण—मैं अर्हत्ओं को नमस्कार करता हू।

णमो सिद्धाण—मैं सिद्धों को नमस्कार करता हू।

णमो आयरियाण—मैं आचार्यों को नमस्कार करता हू।

णमो उवज्झायाण—मैं उपाध्यायों को नमस्कार करता हू।

णमो लोए सव्वसाहूण—मैं लोक के सब सत्तों को नमस्कार करता

इस नमस्कार महामत्र मे किसी व्यक्ति को नमस्कार नहीं किया गया। अर्हत् सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये साधना की दिशा मे प्रस्थित साधको की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाए अथवा सिद्धि-प्राप्त आत्माओ की भूमिकाए हैं। इन भूमिकाओ पर जो भी आरोहण करता है, वह वदनीय हो जाता है, नमस्य हो जाता है। नमस्कार महामत्र के माध्यम से हम अर्हता, सिद्धता, आचार-सम्पन्नता, ज्ञान-सम्पन्नता और साधुता को वदना करते हैं।

इससे ज्ञात होता है, जैन-धर्म व्यापक और उदार दृष्टि वाला धर्म है। वह जाति, वर्ण, वर्ग आदि की सकीर्णताओ से सर्वथा मुक्त सार्वभौम धर्म है। यद्यपि जैन-धर्म वर्तमान मे मुख्यत वैश्य वर्ग से जुड़ा हुआ है, पर प्राचीन समय मे सभी वर्गों और जातियो के लोग जैन-धर्म के अनुयायी थे। भगवान् महावीर क्षत्रिय थे, उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति आदि ब्राह्मण थे। शालिभद्र, घन्या आदि अणगार वैश्य थे। उनका प्रमुख श्रावक आनन्द किसान था। तपस्वी हरिकेशबल चण्डाल कुल मे उत्पन्न थे। आज भी दक्षिण भारत मे महाराष्ट्र आदि कई राज्यों मे कृषिकार, कुभकार आदि जैन है। आचार्य विनोवा भावे के शब्दो मे जैन-धर्म की निजी विशेषताए हैं—

- ० चिंतन मे अनाक्रामक,
- ० आचरण मे सहिष्णु और
- ० प्रचार-प्रसार में सयमित।

काका कालेलकर ने कहा—“जैन-धर्म मे विश्वधर्म बनने की क्षमता है।”

जैनधर्म—दर्शन की मौलिक अवधारणाएं

जैन-दर्शन विश्व के सभी दर्शनों मे विलक्षण है। क्योंकि इसकी अवधारणाए मौलिक हैं। वैसे सभी धर्मों और दर्शनों मे कतिपय विलक्षणताए होती हैं, पर जैन-दर्शन कुछ ऐसी अतिरिक्त विलक्षणताए अपने मे समेटे हुए है, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस एक पद्य के आधार पर हमे जैन-दर्शन के सम्वन्ध मे पर्याप्त जानकारी मिल सकती है—

आदर्शोऽत्र जिनेन्द्र आप्तपुरुष रत्नत्रयाराधना।

स्याव्वाद. समयः समन्वयमयः सृष्टिर्मता शाश्वती॥

कर्तृत्वं सुखदुःखयो स्वनिहित ध्रौव्य व्ययोत्पत्तिमत्।

एका मानव जातिरित्युपगमोऽसौ जैन-धर्मो महान्॥

(गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी)

जैन-धर्म महान् है। उसमे आदर्श है—आप्त पुरुष, उसका साधना-पथ है—रत्नत्रयी की आराधना, सिद्धांत है—समन्वय प्रधान अनेकान्तवाद।

अन्य दार्शनिक मान्यताएँ हैं—सृष्टि शाश्वत है, सुख और दुःख का कर्ता व्यक्ति स्वयं है, प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त है तथा मनुष्य-जाति एक है ।

जैन-धर्म के मुख्य सिद्धान्त ये हैं—

- आत्मा है ।
 - उसका पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म है ।
 - वह कर्म की कर्ता है ।
 - कृत कर्म की भोक्ता है ।
 - बन्धन है और उसके हेतु हैं ।
 - मोक्ष है और उसके हेतु हैं ।
- उक्त दार्शनिक विन्दुओं पर विस्तृत चर्चा अपेक्षित है ।

त्रिपदी : अस्तित्व के तीन आयाम

इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—किं तत्त ? भते । तत्त्व क्या है ? भगवान् ने कहा—“उप्पन्ने इ वा”—उत्पाद तत्त्व है । गौतम की समस्या सुलझी नहीं । उन्होंने दूसरी बार पूछा—किं तत्त ? भते । तत्त्व क्या है ? भगवान् ने कहा—“विग्गेइवा”—विनाश तत्त्व है । गौतम की जिज्ञासा शांत नहीं हुई । उन्होंने तीसरी बार वही प्रश्न किया—किं तत्त ? भते । तत्त्व क्या है ? भगवान् ने कहा—गौतम । ध्रुवे इ वा—ध्रुव तत्त्व है ।

यहा तत्त्व का अर्थ है—पारमार्थिक वस्तु ।^१ इसके लिए ‘सत्’ शब्द का भी प्रयोग होता है । जितने भी अस्तित्ववान् पदार्थ हैं, वे सब सत् हैं, तत्त्व हैं, वास्तविक पदार्थ हैं । इनमे जड और चेतन दोनों का समावेश हो जाता है ।

पदार्थ के सम्बन्ध मे सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं । कुछ दार्शनिक पदार्थ को नित्य—स्थायी मानते हैं और कुछ दार्शनिक उसे अनित्य—परिवर्तनशील मानते हैं । जैन-दर्शन पदार्थ को स्थायी भी मानता है और परिवर्तनशील भी मानता है ।^२

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—यह जैन-दर्शन की त्रिपदी है । जैसे विष्णु ने वामनावतार मे तीन चरणों से समग्र ब्रह्माण्ड को नाप लिया था, वैसे ही अमाप्य मेघा के घनी इन्द्रभूति गौतम ने तीन प्रश्नों के माध्यम से संपूर्ण श्रुत-ज्ञान या आर्हत्-दर्शन को आत्मसात् कर लिया । इसी त्रिपदी के आधार पर उन्होंने द्वादशांगी की रचना की । उनकी ज्ञान-चेतना मे यह स्पष्ट प्रतिबिंबित हो गया कि केवल उत्पाद विनाश या ध्रौव्य वास्तविक नहीं है । तीनों का सापेक्ष योग ही यथार्थ है ।

द्रव्य मे दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (गुण) और क्रमभावी (पर्याय) । बौद्ध सत् द्रव्य को एकांत अनित्य मानते हैं तो वेदाती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकांत नित्य मानते हैं । पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्य

१ जैन सिद्धांत दीपिका २/१ (आचार्य श्री तुलसी) तत्त्व पारमार्थिक वस्तु ।

२ जैन तत्त्व विद्या ४/१ (आचार्य श्री तुलसी)

त्रिपदी अस्तित्व के तीन आयाम

सत्तावाद । जैन-दर्शन दोनो का समन्वय कर "परिणामी-नित्यवाद" की स्थापना करता है ।^१

उसके अनुसार सत् वह है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त हो ।^२

सत् उसे कहते हैं, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त हो । यह है जैन-दर्शन का परिणामी नित्यत्ववाद । इसका तात्पर्य है—वस्तु अपने अस्तित्व रूप में सदा कायम रहती है । कभी भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता, किंतु उत्पाद और विनाश के रूप में उसका रूपांतरण होता रहता है । इसे जैन-दर्शन पर्याय-परिवर्तन कहता है । जैसे दूध से दही बनता है । इस प्रक्रिया में दूध नष्ट हो जाता है, दही अस्तित्व में आ जाता है, यह पर्याय है । पर दूध और दही—ये दोनो गोरस हैं । गोरसत्व में कोई अंतर नहीं है, यह अन्वयी धर्म ध्रौव्य है ।^३

लोक शाश्वत भी अशाश्वत भी

गौतम ने पूछा—भते । लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? भगवान् ने कहा—लोक द्रव्य से शाश्वत है और पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है, परिवर्तनशील है । आचार्य श्री महाप्रज्ञ के शब्दों में—

परिणामिनि विश्वेऽस्मिन् अनादि निघने ध्रुवम् ।

सर्वे विपरिवर्तन्ते, चेतना अप्यचेतना ॥

—सबोध १५/३१

यह विश्व अनादि-निघन है, ध्रुव है, फिर भी परिणामी है । इसमें चेतन और अचेतन सभी पदार्थ विविध रूपों में परिवर्तित होते रहते हैं । "उत्पादव्ययधर्माणो, भावा ध्रौव्यान्विता अपि ।" प्रत्येक पदार्थ ध्रौव्य—युक्त होते हुए भी उत्पाद और व्यय-धर्मा है ।

जैसे विश्व ध्रुव है, वैसे ही द्रव्य की दृष्टि से जब चेतन प्रत्येक पदार्थ ध्रुव है, नियत है । ये ससार में जितने हैं, उतने ही रहेंगे । ससार में न एक जीव घटता है, न एक जीव बढ़ता है, भौतिक जगत् में न एक अणु कम होता है, न एक अणु अधिक होता है और न कभी जीव अजीव बनता है ।

न क्षीयन्ते न वर्धन्ते सति जीवा अवस्थिताः ।

अजीवो जीवता नन्ति न जीवो यात्यजीवताम् ॥

—सबोध १२/६०

१ जैन-दर्शन मनन और मीमांसा, पृ० १८६ ।

२ श्री भिक्षु न्याय कणिका—उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सत् ।

३ उत्पन्नदधि भावेन, नष्ट दुग्धतया पय ।

गोरसत्वात् स्थिर जानन् स्याद्वादद्विद् जनोऽपि ॥

ध्रौव्य पदार्थ का सहभावी गुण है। उत्पाद और विनाश उसकी क्रम-भावी अवस्थाएँ हैं, जो पर्याय कहलाती हैं। विश्व का कोई भी पदार्थ इस त्रयी का अपवाद नहीं है। इसे द्रव्य का घटक तत्त्व कहे तो कोई आपत्ति नहीं होगी। पदार्थ की अपने स्वरूप में अवस्थिति ध्रौव्य है और उसमें जो सतत परिवर्तन की धारा चालू है, वह पर्याय है। द्रव्य गुण और पर्याय—दोनों का समवाय है।

जीव-जगत् और त्रिपदी

लोक में जीव अनन्त हैं। ससारी जीव भी अनन्त हैं और मुक्त आत्माएँ भी अनन्त हैं। कर्मबद्ध जीव ससारी हैं। कर्मावरण को क्षीण कर जो ससारी जीव मुक्त हो जाते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। ये आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था-जनित भेद है, पर जीवत्व दोनों स्थितियों में समान है।

अनन्त जीवों के मुक्त हो जाने पर भी ससार जीव-शून्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि जीव दो प्रकार के हैं—अव्यवहार राशि और व्यवहार राशि। अव्यवहार राशि सूक्ष्मतम वनस्पति जगत् है। उसे निगोद भी कहते हैं। निगोद जीवों का अक्षय कोष है। वह अव्यवहार राशि है। स्थूल-जगत् या व्यवहार राशि से जैसे-जैसे जीवात्माएँ मुक्त होती हैं, वैसे-वैसे अव्यवहार राशि से उतने ही जीव व्यवहार राशि में आ जाते हैं। इसलिए अनन्त जीवों की मुक्ति हो जाने पर भी ससार जीव-शून्य नहीं होता। निगोद के जीवों का कभी अन्त नहीं आता। उनके एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। शरीर भी इतना सूक्ष्म जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आधुनिक विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में आलपिन की नोक टिके उतने भाग में दस लाख कोशिकाएँ हैं। यह स्थूल-जगत् की बात है। निगोद-सूक्ष्म जगत् है। वहाँ एक शरीर में अनन्त जीवों का होना असंभव नहीं है। तात्पर्य की भाषा में अनन्त-अनन्त जीवों से भरे इस ससार में कभी जीवों का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इस दृष्टि से जीव जगत् ध्रुव है। शाश्वत है। जीव प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं, विनष्ट होते हैं—इस अपेक्षा से वह अनित्य है। परिवर्तनशील है।

जैसे पुराने कपड़े के फट जाने पर नया कपड़ा धारण किया जाता है, वैसे ही ससारी आत्माएँ पूर्व देह का त्याग कर नये शरीर का निर्माण करती हैं। जन्म-जन्मान्तर की यात्रा में वे नाना योनियों में परिभ्रमण करती हैं, नाना गतियों का अनुभव करती हैं। नरक, तिर्यच, मनुष्य अथवा देव रूप में उत्पन्न हो उन-उन अवस्थाओं का सवेदन करती हैं। परिवर्तन का चक्र अविराम घूमता रहता है फिर भी उसके ध्रुव तत्त्व—चैतन्य की अमिट

ली सदा प्रज्वलित रहती है। वह कभी नहीं बुझती।

वचपन, जवानी और बुढापा ये जीवन-यात्रा के अनिवार्य घुमाव हैं। यह परिवर्तन हमारे अनुभव के दर्पण में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। यदि कोई मूर्खिग केमरे में व्यक्ति की क्षण-क्षण में बदलने वाली अवस्थाओं को कैद करना चाहे तो करने वाला थक जाएगा किंतु अवस्थाओं का कोई अन्त नहीं आएगा। यह स्थूल शरीर के परिवर्तन का चित्र है।

इसके अतिरिक्त हमारे सूक्ष्म शरीर में कितने रासायनिक परिवर्तन होते हैं, कितने विद्युतीय परिवर्तन होते हैं, कितने भावनात्मक और आध्यात्मिक परिवर्तन होते हैं, जिनका लेखा-जोखा नहीं लगाया जा सकता।

शरीर शास्त्रीय खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक सात वर्ष की अवधि में मनुष्य-शरीर आमूल-चूल बदल जाता है, उसकी प्रत्येक कोशिका बदल जाती है। इस क्रम में सत्तर वर्ष में आदमी का शरीर दस बार बदल जाता है। शरीर में दस लाख रक्त कोशिकाएँ प्रतिक्षण उत्पन्न-विनष्ट होती रहती हैं। तथापि प्रतिक्षण घटित होने वाले परिवर्तन में भी एक ऐसा अपरिवर्तनीय ध्रुव तत्त्व है, जो हमें प्रतीत कराता है कि यह वस्तु वही है, यह शरीर वही है, यह व्यक्ति वही है। यही है वस्तु का त्रिआयामी अस्तित्व। यही है बदलाव में भी ठहराव। यही है जमाव में भी बहाव। यही है परिवर्तन-शीलता में भी ध्रुवता। परिवर्तन में भी जीवन धारा वही है। पर्यायों क्षणभंगुर हैं। चेतना अविनाशी है।

जैसे चेतन कभी अचेतन नहीं होता, वैसे ही अचेतन में कभी चैतन्य-गुण प्रकट नहीं होता। पुद्गल-जड तत्त्व चाहे कितना ही रूपांतरित हो जाए उसकी मौलिकता कभी समाप्त नहीं होती। पुद्गल की मौलिकता है—स्पर्श, रस, गंध और रूप। अणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक प्रत्येक पुद्गल में इनकी सत्ता बराबर है। मिट्टी चाहे सोना बन जाए, शरीर चाहे जल कर राख हो जाए, गोबर चाहे गैस बन जाए, पानी चाहे भाप बनकर शून्य में विलीन हो जाए, फिर भी उसका पुद्गलत्व समाप्त नहीं होता। यह मौलिकता एक सचाई है तो परिवर्तन भी सचाई है। कोई भी जड-पदार्थ परिवर्तन के नियम का अपवाद नहीं है।

मिट्टी के अनेक आकार-प्रकार बनते-विगडते रहते हैं। पर मिट्टी तत्त्व सब में समान है। सोने की अनेक अवस्थाएँ हैं, अनेक वस्तुएँ हैं, पुरानी वस्तु मिटती हैं, नयी बनती हैं, पर सोना सोना है। उसका अस्तित्व सब में एक जैसा है।

तीन भाई हैं, उनके पास एक स्वर्ण-कलश है। एक को वह प्रिय है, दूसरा उसे मिटाकर मुफ़्त बनाना चाहता है। तीसरे को सोने से मतलब है,

वह चाहे किसी रूप में रहे। कालांतर में घड़े का मुकुट बना लिया जाता है। पहला व्यक्ति खिन्न होता है और दूसरा प्रसन्न। तीसरा न खिन्न न प्रसन्न। उसे सोना चाहिए था वह सुरक्षित है। स्वर्ण ध्रौव्य है, घड़ा और मुकुट उसकी पूर्व-उत्तर अवस्थाएँ हैं।

त्रिपदी के सवध में विस्तार से जान लेने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो केवल उत्पन्न ही होती है। या केवल विनष्ट ही होती है अथवा कूटस्थ नित्य ही है। सत् त्रयात्मक है। उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों वस्तु के अपरिहार्य अंग हैं।

उत्पाद—नयी-नयी अवस्थाओं का प्रादुर्भाव।

विनाश—पूर्व-पूर्व अवस्थाओं का परित्याग।

ध्रौव्य—उत्पाद और विनाश के होते हुए भी वस्तु का अन्वयी गुण धर्म। जैन-दर्शन में इस त्रिपदी को मातृपदिका भी कहते हैं।

द्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ ध्रुव है। कोई भी पदार्थ न तो नये सिरे से उत्पन्न होता है और न अपना अस्तित्व खोकर शून्य में विलीन होता है। मात्र उसका परिणमन होता रहता है।

जैन-दर्शन का यह परिणामी नित्यत्ववाद आधुनिक विज्ञान से भी पुष्ट हो रहा है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवाईजर लिखते हैं—“किसी भी क्रिया से कुछ भी नया उत्पन्न नहीं किया जा सकता और किसी भी क्रिया के पहले और पीछे वस्तु की मूल मात्रा में कोई अंतर नहीं आता। क्रिया से केवल पदार्थ का रूप परिवर्तित होता है।

वैज्ञानिक डेमोक्राइटस भी तथ्य को प्रकट करते हैं—विज्ञान के शक्ति-स्थिति, वस्तु-अविनाशित्व, शक्ति की परिवर्तनशीलता आदि सिद्धांतों से यह धारणा मजबूत होती है कि नाशवान् पदार्थ में भी ध्रुवत्व है अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता।

त्रिपदी का यथार्थ बोध वस्तुगत सच्चाइयों का उद्घाटन करता है। आंतरिक मूर्च्छा के बलय को तोड़ता है। सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करता है। दृष्टि-सम्पन्नता ही सत्य शोध का आदि बिंदु है।

जैनदर्शन में तत्त्ववाद

विश्व मत्र पर जितने दार्शनिक विचार उभरे, उन सबकी भिन्न-भिन्न परम्पराएँ हैं, स्वतंत्र मान्यताएँ हैं। तत्त्ववाद भी सबका अपना-अपना है। उनमें एक है जैन-दर्शन। यह भारतीय दर्शनो की एक मुख्य धारा है। उसकी परम्परा स्वतंत्र है। तत्त्व-मीमासा मौलिक है।

तत्त्व का सामान्य अर्थ है—वास्तविक या अस्तित्ववान् पदार्थ। रहस्यभूत पदार्थ को भी तत्त्व कहते हैं। चैतन्य का विकास या मोक्ष-मीमासा के परिप्रेक्ष्य में तत्त्व का अर्थ है—पारमार्थिक वस्तु। चैतन्य जागरण और परम सत्ता की उपलब्धि हेतु इन तत्त्वों का सम्यग् बोध अपेक्षित है। जैन-दर्शन के अनुसार मुख्य रूप से तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। ससार के दृश्य-अदृश्य, सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त-अमूर्त, जड-चेतन—सभी पदार्थों का समावेश इन दो तत्त्वों में हो जाता है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं वचता, जिसका अन्तर्भाव इस तत्त्वद्वयी में न हो। ससार के समस्त पदार्थों को कम से कम समूहों में वर्गीकृत किया जाए तो उनकी दो राशियाँ होती हैं —

१ जीव-राशि

२ अजीव राशि।

इन दोनों का विस्तार से विश्लेषण किया जाए तो अनेकानेक भेद हो सकते हैं।

जैन-दर्शन में तत्त्व-प्रतिपादन की दो दृष्टियाँ रही हैं—जागतिक और आत्मिक। जागतिक रहस्यों के उद्घाटन हेतु छ द्रव्यों का सूक्ष्म-विश्लेषण जैन-दर्शन की अद्भुत देन है। आध्यात्मिक-विकास के अनुचितन में दो दृष्टियाँ प्रमुख हैं—वन्धन और वन्धन के हेतु तथा मोक्ष और मोक्ष के हेतु। इस समूची प्रक्रिया का बोध एक अध्यात्म-साधक के लिए नितात अपेक्षित है। नौ तत्त्वों का प्रतिपादन इसी दिशा का एक स्वस्थ उपग्रह है। षट् द्रव्य और नव तत्त्व के प्रतिपादन को दर्शन-जगत् में अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद भी कहा जाता है। जो ज्ञेय पदार्थ मोक्ष-साधना में उपयोगी हैं, जैन-दर्शन की भाषा में वे तत्त्व कहलाते हैं।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं।

जीव-चैतन्य का अजस्र प्रवाह। दूसरे शब्दों में जिसमें चैतन्य हो, सुख-दुःख का संवेदन हो वह जीव है।

अजीव — चैतन्य का प्रतिपक्षी जड-तत्त्व अजीव है ।

पुण्य—शुभरूप में उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पुण्य है ।

पाप—अशुभरूप में उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पाप है ।

आस्रव—पुण्य-पाप रूप कर्म ग्रहण करने वाली आत्म-परिणति आस्रव है ।

सवर-आस्रव का निरोध करने वाली आत्म-परिणति सवर है ।

निर्जरा—तपस्या आदि के द्वारा कर्म-निर्जरण होने से आत्मा की जो आशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है ।

बन्ध—आत्मा के साथ बंधे हुए शुभ-अशुभ कर्म-पुद्गलो का नाम बंध है ।

मोक्ष—कर्म-विमुक्त आत्मा अथवा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा ही मोक्ष है ।

जैसा कि हमें पहले ही बताया जा चुका है कि वास्तविक तत्त्व दो ही हैं—जीव और अजीव । फिर भी मोक्ष-साधना के रहस्य को बतलाने के लिए इनके नौ भेद किए गए हैं । इन नौ भेदों में प्रथम भेद जीव का है और अंतिम भेद मोक्ष का । जीव आत्मा की अशुद्ध-अवस्था है और मोक्ष विशुद्ध अवस्था । मध्यगत भेदों में मोक्ष के साधक और बाधक तत्त्वों का निरूपण है ।

अस्त्यात्मा शाश्वतो, बन्धस्तदुपायश्च विद्यते ।

अस्ति मोक्षस्तदुपायो, ज्ञेय-दृष्टिरसौ भवेत् ॥

—संबोध १२/४

आत्मा है, वह शाश्वत है, पुनर्भवी है । बन्ध है और उसका हेतु है । मोक्ष है और उसका उपाय है । यह ज्ञेय-दृष्टि है, सम्यक्त्व का आधारभूत तत्त्व है ।

बन्ध पुण्य तथा पापमास्रव कर्मकारणम् ।

भव-बीजमिदं सर्वं, ज्ञेय दृष्टिरसौ भवेत् ॥

—संबोध १२/५

बन्ध, पुण्य, पाप तथा कर्मागमन का हेतुभूत आस्रव—ये हेतु हैं, क्योंकि ये ममार के बीज हैं । भव-परम्परा के मूल कारण हैं ।

निरोध कर्मणामस्ति, संवरो निर्जरा तथा ।

कर्मणां प्रक्षयश्चैपोपादेय-दृष्टिरिष्यते ॥

—संबोध/१२६

कर्मों का निरोध करना सवर है और कर्म-क्षय से होने वाली आत्म-शुद्धि निर्जरा है, यह उपादेय दृष्टि है ।

साधना का आदि बिंदु है—तत्त्व का चुनाव और दिशा का निर्धारण

उसका दूसरा विदु है—मटकाने वाले तत्त्वो से वचाव और तीसरा विदु है—सही दिशा में जागरूक अभिक्रम ।

अध्यात्म-साधक का परम लक्ष्य है—द्वन्द्व-मुक्ति—मोक्ष । उसके वाघक तत्त्व हैं—वध, पुण्य, पाप और आस्रव । लक्ष्य-प्राप्ति के साधक तत्त्व हैं—सवर और निर्जरा ।

नौ तत्त्वो में चार तत्त्व अजीव हैं, अजीव की अवस्थाएँ हैं—अजीव, पुण्य, पाप और वन्ध ।

पाच जीव हैं, जीव की अवस्थाएँ हैं—जीव, आस्रव । सवर, निर्जरा और मोक्ष ।

इन नौ तत्त्वो को नौ पदार्थ या नव सद्भाव पदार्थ भी कहते हैं । नौ तत्त्वो का सम्यक् बोध सम्यक्त्व की आधार-मिति है । सम्यक्त्व का अर्थ है—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा । सम्यक् ज्ञान के विना श्रद्धा में स्थायित्व नहीं आता । अतः प्रत्येक साधक के लिए कम से कम नौ तत्त्वो का ज्ञान करना अनिवार्य है ।

दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि तत्त्वज्ञान मोक्ष-यात्रा का प्रथम सोपान है । उसके विना निर्वाण और दुःख-मुक्ति संभव नहीं ।

जीव और अजीव को जानने से अहिंसा की सही समझ विकसित होती है । उससे आचार-व्यवहार सयत होता है । उसका फलित है—मुक्ति । मुक्ति का आरोह-क्रम यह है —

- १ जीव-अजीव का ज्ञान ।
- २ जीवो की बहुविध गतियों का ज्ञान ।
- ३ पुण्य, पाप, वध और मोक्ष का ज्ञान ।
- ४ भोग-विरति ।
- ५ आंतरिक और बाह्य सयोगो का त्याग ।
- ६ अनगार-वृत्ति ।
- ७ अनुत्तर सवर-योग की प्राप्ति ।
- ८ अयोधि से अजित पाप-कर्मों (कर्म-रजो) का विलय ।
- ९ केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की उपलब्धि ।
- १० अयोग-अवस्था ।
- ११ सिद्धत्व-प्राप्ति ।

—दशवैकालिक अ ४/१४ - २५

आचार्य श्री भिक्षु ने एक बहुत ही सुन्दर रूपक के माध्यम से नौ तत्त्वो को नमभाया है —

जीव एक तालाब (जलाशय) के समान है ।

अजीव तालाब का अभाव रूप है ।

पुण्य-पाप तालाब का निकलता-बहता पानी है ।

आस्रव तालाब का नाला है ।

सवर तालाब के नाले का निराध है ।

निर्जरा - जल निष्कासन-प्रक्रिया से पानी का निकलना निर्जरा है ।

बध—तालाब का संचित जल बध है ।

मोक्ष—खाली तालाब मोक्ष है ।

यहा एक बात ओर विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि यह विश्व सप्रति-पक्ष है । प्रतिपक्ष का सिद्धात सर्वत्र समान रूप से लागू है । क्योंकि प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का अस्तित्व असंभव है । नौ तत्त्वों में भी प्रत्येक तत्त्व के साथ उसके प्रतितत्त्व का प्रतिपादन है ।

विश्व में यदि जीव का अस्तित्व है तो अजीव भी निश्चित है । जीव चेतनावान् पदार्थ है तो अजीव चेतनारहित । जीव दो प्रकार के होते हैं—सिद्ध और ससारी । सिद्ध आत्माएँ जन्म-परम्परा से मुक्त हैं । ससारी आत्माएँ कर्म-प्रभाव से ससार में परिभ्रमण करती हैं और सुख-दुःख का भोग करती हैं । इसका कारण है—पुण्य-पाप । ये दोनों प्रतिपक्षी हैं । आत्मा की सत् प्रवृत्ति से आकृष्ट पुद्गल-स्कन्ध शुभकर्म या पुण्य कहलाता है, तथा आत्मा की असत् प्रवृत्ति से आकृष्ट पुद्गल-स्कन्ध अशुभ कर्म या पाप कहलाता है ।

आस्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है सवर । आस्रव चेतना का छिद्र है, जिससे निरन्तर कर्म-रजो का प्रवेश होता रहता है । सवर आस्रव-निरोध की प्रक्रिया है । इससे कर्मों का आगमन रुकता है ।

बन्धन के प्रतिपक्षी तत्त्व हैं—निर्जरा और मोक्ष । निर्जरा आत्मा की आशिक उज्ज्वलता है । मोक्ष है—कर्ममलो का पूर्णत विलय । जिस क्षण नया कर्म-बन्धन अवरुद्ध हो जाता है और पूर्वबद्ध कर्म पूर्णत क्षीण हो जाते हैं, वही क्षण मोक्ष का क्षण है ।

जैन-धर्म में जीव-विज्ञान (पद्ज्जीव-निकाय)

जैन-धर्म अहिंसा-प्रधान धर्म है। अहिंसा का फलित है—मैत्री। सब जीवों के प्रति आत्मत्व बुद्धि का नाम मैत्री है। अहिंसा का अर्थ है सब जीवों के प्रति सयम। अहिंसा और मैत्री के विकास के लिए जीवों के अस्तित्व का बोध, उनके लक्षणों का बोध और उनकी विभिन्न अवस्थाओं का बोध करना आवश्यक है।

जैन आगमों में जीवों के छह प्रकार बताए गए हैं, जो छह जीव-निकायों के रूप में प्रसिद्ध हैं। जीवों के छह प्रकार ये हैं—

- पृथ्वीकायिक
- अष्कायिक
- तेजस्कायिक
- वायु-कायिक
- वनस्पतिकायिक
- असकायिक।

काय का अर्थ है—शरीर। भाति-भाति के पुद्गलों से बने शरीरों के आधार पर जीवों का यह वर्गीकरण हुआ है। उनका वर्णन क्रमशः इस प्रकार है—

(१) काठिन्य आदि लक्षणों से जानी जाने वाली पृथ्वी ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवों को पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक जीव कहते हैं।

मिट्टी, बालू, नमक, मोना, चादी, अप्रक, हीरे, पत्थर आदि जितने भी प्रकार के खनिज पदार्थ हैं, वे सब पृथ्वीकायिक जीवों के पिंड हैं। मिट्टी के एक छोटे-से ढेले में असंख्य जीव होते हैं। ये जीव एक साथ रहने पर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखते हैं।

आगम की भाषा में एक हरे आवले के आयतन जितने मिट्टी के ढेले में जितने पृथ्वीकायिक जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक जीव के शरीर को पचूतर जितना बड़ा किया जाए तो एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में भी वे जीव नहीं समा सकते।

(२) प्रवाहणीय द्रव्य जल ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवों को अप्काय या अप्कायिक जीव कहते हैं। वर्षा, जलाशय, नदी नाले समुद्र आदि या जल, ओले, कुहरा, ओस—ये सब अप्कायिक जीवों के

शरीर हैं। इन जीवों के शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक-एक शरीर हमें दिखाई ही नहीं देता। पानी की एक बूंद अणुकायिक जीवों के असंख्य शरीरों का पिण्ड है। ये जीव एक साथ रहने पर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखते हैं।

आगम की भाषा में—पानी की एक बूंद में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान बनाया जाए तो वे जीव जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

(३) उष्ण लक्षण तेज ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवों को तेजस्काय या तेजस्कायिक जीव कहते हैं। सभी प्रकार की अग्नि अग्निकाय के जीवों का पिण्ड है। एक साथ रहते हुए भी इन सब जीवों का अस्तित्व अलग-अलग है।

आगम की भाषा में—एक चिनगारी में जितने जीव हैं, उनमें से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे जीव जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

(४) चलन धर्मा वायु ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवों को वायुकाय या वायुकायिक जीव कहते हैं। सब प्रकार की हवाएँ वायुकायिक जीवों का पिण्ड हैं। एक साथ रहते हुए भी इन सब जीवों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है।

आगम की भाषा में—नीम के पत्तों को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक जीव के शरीर को खस-खस के दाने के समान किया जाए तो वे जीव जम्बूद्वीप में नहीं समाते।

(५) लतादिरूप वनस्पति ही जिनका काय-शरीर है, उन जीवों को वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं। वृक्ष, लता, गुच्छ, फल-फूल, धान-पात, कद-मूल—ये सब वनस्पतिकायिक के प्रकार हैं।

इस काय में रहने वाले जीवों के दो प्रकार हैं—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति के जीव एक-एक शरीर में एक-एक ही होते हैं। एक जीव के आश्रित असंख्य जीव रह सकते हैं, पर उन सबका अस्तित्व स्वतन्त्र है।

साधारण वनस्पति में एक-एक शरीर अनन्त-जीवों का पिण्ड होता है। सब प्रकार की काँड़े, कद-मूल आदि साधारण वनस्पति हैं।

संसार के सर्वाधिक जीव वनस्पतिकाय में ही हैं। साधारण वनस्पति का एक प्रकार है—“निगोद” यह जीवों का अक्षय कोष है।

(६) त्रसन्शील—गतिशील प्राणी ‘त्रस’ कहलाते हैं। त्रस ही जिनका काय—शरीर है, उन जीवों को त्रसकाय या त्रसकायिक कहते हैं।

जिन जीवों के शरीर में सुख-प्राप्ति अथवा दुःख-मुक्ति के लिए

चलने-फिरने की, सकोच-विकोच की क्षमता होती है, वे जीव त्रस, चर या जगम कहलाते हैं। दो इन्द्रिय वाले प्राणियों—कृमि आदि से लेकर पाच इन्द्रिय वाले प्राणियों तक सभी जीव इस विभाग में आ जाते हैं।

जहाँ जीवों के त्रस और स्थावर—ये दो भेद किए जाते हैं, वहाँ एक त्रसकाय त्रस है जो कि उसके नाम से ही स्पष्ट है। बाकी पाच स्थावर हैं। ये सुख-दुःख की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए गमनागमन नहीं कर सकते। त्रसकाय का जीवत्व स्पष्ट है। पाच स्थावर काय का जीवत्व स्पष्ट नहीं है। इसी-लिए कई दार्शनिक इनको चेतन के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में ये “जड” या “पाचभूत” मात्र हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और हरियाली सजीव हैं, चेतनावान् हैं। उक्त पाच स्थावर जीव-निकायो के सम्बन्ध में “दसवेआलिय” में स्पष्ट उल्लेख है कि ये सब अर्हत्-प्रवचन में “चित्तमत-मवघाया”—चेतनावान् कहे गए हैं। “मत” शब्द को “मात्र” मानकर भी व्याख्या की जाए तो मात्र का एक अर्थ है स्तोक—अल्प। तब इनका अर्थ होगा पृथ्वीकाय आदि पाच जीव-निकायो में चैतन्य-स्तोक-अल्प विकसित है। उनमें श्वास-प्रश्वास, उन्मेष-निमेष आदि जीव के व्यक्त चिह्न नहीं हैं।

“मत” का अर्थ मूर्च्छित भी किया गया है। जैसे चित्त के विघातक कारणों से अभिभूत मनुष्य का चित्त मूर्च्छित हो जाता है, वैसे ज्ञान के आवारक कर्म-पुद्गलों के प्रबल उदय से पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों का चैतन्य सदा मूर्च्छित रहता है। इनके चैतन्य का विकास न्यूनतम होता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय—पशु, पक्षी, नारक, मनुष्य, देव—इन सब में चेतना का विक्रम उत्तरोत्तर अधिक है। ससार की सब जीव-जातियों में सबसे कम विकसित चेतना एकेन्द्रिय जीवों की है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये सब एकेन्द्रिय हैं—एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले जीव हैं। ये न चख सकते हैं, न सूँघ सकते हैं, न देख सकते हैं और न सुन सकते हैं। इनका सारा काम एक स्पर्श के आधार पर चलता है। इस विभाग में समारी जीवों का इतना बड़ा समूह है जो गणित की गणना का विषय नहीं हो सकता।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार—सजातीय अकुरोत्पत्ति जब तक शम्य द्वारा उपहत न हो, सहज द्रव होना, आहार में बढ़ना, बिना दूधरे की प्रेणा के सहज अतिवर्धित तिर्यक् गति तथा छेदन-भेदन होने पर कुम्हला जाना—ये श्रमश पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति जी सजीवता के साधक प्रमाण हैं। (श्री भिक्षु न्याय वर्णिका ७।१६)

जैन-दर्शन की स्थावर जीवो की मान्यता सर्वथा मौलिक और अद्वितीय है। अन्य दर्शन-पृथ्वी आदि को सजीव नहीं मानते थे। परन्तु आज वैज्ञानिक खोजो और प्रयोगो ने जैन-दर्शन की इस मान्यता को सत्य सिद्ध कर दिया है।

सूक्ष्म जीव जगत् और विज्ञान

पृथ्वी का जीवत्व

जैन-दर्शन पृथ्वी को सजीव मानता है। जब तक शस्त्र-उपहत नहीं होती, मिट्टी आदि निर्जीव नहीं होती। पृथ्वी की सजीवता सिद्ध करने वाले ये वैज्ञानिक तथ्य मननीय हैं।

मास्को विश्वविद्यालय के मृत्तिका जीव-विज्ञान-विभाग के प्रधान तथा सूक्ष्म कीटाणुओं के प्रमुख विशेषज्ञ प्रो० एन० फ्रोसिल निकोव ने मिट्टी सजीव है या निर्जीव, यह जानने के लिए वर्षों तक खोज की, प्रयोग किए और सफलता के शिखर को छूते हुए उन्होंने कई नए तथ्य प्रस्तुत किए। उन्होंने 'एनारोबिक' नाम के ऐसे कीटाणुओं का पता लगाया, जो जमीन के भीतर ऑक्सीजन के बिना ही जीवित रहते हैं, क्रियाशील रहते हैं।

प्रो० फ्रोसिल के शिष्य वी० दूदा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों से सी से अधिक प्रकार के इन कीटाणुओं को अलग करने में सफल हुए हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन-विज्ञान के अनुसार पृथ्वी में रहने वाले कीटाणु पृथ्वीकाय नहीं हैं। पृथ्वीकाय स्वयं जीवाणुओं का पिंड है।

विज्ञान ने यह भी सिद्ध कर दिया कि एक ग्राम के ढेले में कई लाख दर्जन अतिसूक्ष्म जीवाणु ठसाठस भरे हैं, जो लाखों वर्षों से लगातार अथक प्रयास कर, धरती को उपजाऊ बनाए रखते हैं।

सजातीय उत्पादन और वृद्धि—यह जीव की खास पहचान है। जैन-दर्शन मानता है, पृथ्वीकाय में निरन्तर वृद्धि का क्रम चालू रहता है। यह विज्ञान से भी सिद्ध होता है।

वैज्ञानिक एच० टी० वस्तटापेन के अनुसार—“जैसे बालक का शरीर निरन्तर बढ़ता रहता है, वैसे पर्वत भी धीरे-धीरे बढ़ते हैं। विश्व के पर्वतों की वृद्धि का अकन करते हुए लिखते हैं—“न्यूगिनी के पर्वतों ने अभी अपनी रांगवावस्था ही पार की है, सेलीवोस के दक्षिणी-पूर्वी भागों, भोलूकास के कुछ टापुओं और इंडोनेशिया के द्वीप समूह की भूमि ऊँची उठ रही है।

डॉ० सुगाते वे अभिमत ने न्यूजीलैंड के पश्चिमी नेलसन के पर्वत 'प्लाइटोनीन' युग के अन्त में विकसित हुए हैं। डॉ० वेल्मेन लिखते हैं—आल्प्स पर्वतमाला का पश्चिमी भाग अब भी बढ़ रहा है। 'द्वीपों की भूमि का उठाव तथा पर्वतों की वृद्धि पृथ्वी की सजीवता के स्पष्ट प्रमाण हैं

पानी की सजीवता भी विज्ञान की कसौटी पर खरी उतर रही है। जैन-दर्शन के अनुसार पानी की एक बूद में असंख्य जीव होते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कैप्टन स्कवेसिवी ने यन्त्र के द्वारा एक लघुजलकण में ३६४५० जीव गिना दिए हैं।

अग्नि और वायु की सजीवता भी विज्ञान-सम्मत है।

जैसे मनुष्य, पशु आदि जीवित प्राणी श्वास द्वारा शुद्ध वायु से ऑक्सीजन ग्रहण कर जीवित रहते हैं, वैसे ही अग्नि भी वायु से ऑक्सीजन लेकर ही जीवित रहती है, जलती है। अग्नि को यदि वर्तन से ढक दिया जाए या उसे हवा न मिले तो वह तत्काल बुझ जाती है।

हवा की सजीवता के सम्बन्ध में वैज्ञानिक भी कहते हैं कि सुई की नोक टिके उतनी हवा में लाखों जीव रहते हैं जिन्हें “थेक्सस” कहा जाता है।

वनस्पति की सजीवता अन्य स्थावर जीव-निकायो की अपेक्षा बहुत स्पष्ट है। “आयारो” में मनुष्य और वनस्पति जगत् की प्रकृतिगत समानताओं का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। (आयारो १।७)

विज्ञान जगत् में सर्वप्रथम सर जगदीशचन्द्रबसु ने यह बात सिद्ध की थी कि वनस्पति सजीव है। उन्होंने यन्त्रों के माध्यम से वनस्पति जगत् की सवेदनशीलता को स्पष्ट दिखलाया था। डॉ० वसु ने दिखाया कि वनस्पति अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में हर्ष, शोक, रूदन आदि करती है। जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि वनस्पति काय में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—ये चारों सजाए होती हैं।

जैसे मनुष्य शरीर आहार से बढ़ता है, उपचित होता है, अन्यथा अपचित हो जाता है, सूख जाता है, वैसे ही वनस्पतिया भी उपचित, अपचित होती हैं।

वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है कि वनस्पतिया मिट्टी, जल, वायु, प्रकाश आदि से आहार ग्रहण कर अपने तन को पुष्ट करती हैं, आहार के अभाव में वे जीवित नहीं रह सकती।

मनुष्य, पशु-पक्षी आदि की भाँति वनस्पतिया भी शाकाहारी और मासाहारी होती हैं।

छुईंमुईं सकोचशील और भयप्रधान वनस्पति है। वनस्पति जगत् में मैथुन और परिग्रह की वृत्ति भी होती है। पेड़-पौधे भी मनुष्यों की भाँति नींद लेते हैं, विश्राम कर थकान मिटाते हैं। वनस्पतिया बहुत सवेदनशील होती हैं। फूल-पत्तिया एक माली और हत्यारे की पहचान अच्छी तरह से कर लेती हैं। आधुनिक सूक्ष्म यन्त्रों के माध्यम से वनस्पति जगत् की सजीवता के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने अनेक रहस्यों को अनावृत किया है।

सूडान और वेस्टइंडीज में एक ऐसा वृक्ष मिलता है, जिसमें से दिन में विविध प्रकार की राग-रागनिया निकलती हैं और रात को रोने-धोने की ऐसी आवाजें निकलती हैं, मानो परिवार के सब सदस्य किसी की मृत्यु पर रो रहे हैं।

जैन-ग्रन्थों में वनस्पति की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की मानी गई है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडमंड शुभाशा के अनुसार अमेरिका के कैलीफोर्निया के नेशनल वन में ४६०० वर्ष की आयु के वृक्ष विद्यमान हैं।

इन अध्ययनों से यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि जैन-धर्म का जीव-विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, गम्भीर अध्ययन-अनुशीलन का विषय है और उसे आधुनिक विज्ञान का समर्थन प्राप्त है।^१

१. सदर्भ — १ दसवेआलिय, ४।५-८

२ दसवेआलिय हा० टी० प० १३८

३ आयारो-१।१

४. जैन-दर्शन मनन वीर मीमांसा, पृष्ठ २८१

५ श्री मिस्तु न्याय कर्णिका ७।११।

जन्मान्तर यात्रा (गतिचक्र)

दीघा जागरतो रत्ती, दीघो सतस्त जोयण ।

दीघो बालानं ससारो, सद्धम्म अविजानतो ॥ (धम्मपव)

अनिद्रा रोग से ग्रस्त व्यक्ति के लिए रात लम्बी हो जाती है, थके हुए पथिक के लिए एक योजन का मार्ग भी लम्बा हो जाता है, वैसे ही धर्म का मर्म न जानने वाले अज्ञानी प्राणी का ससार लम्बा हो जाता है। जैसे कोई दृष्टिहीन व्यक्ति गहन जंगल में फस जाता है तो कठिन होता है उससे निकलना, वैसे ही चतुर्गन्तिमय ससार कान्तार दुरन्त है। उसका रास्ता बहुत लम्बा है। मोह-मूढ व कर्मों से बधे प्राणी अनादि काल से उसमें परिभ्रमण कर रहे हैं। वे न तो उसका पार पा रहे हैं और न ही उन्हें निकलने का कोई उपाय सूझ रहा है। बस, भटकना ही उनकी नियति है। जन्म और मृत्यु की परम्परा को वे निरन्तर दुहराते रहते हैं।

“जायन्ते ये भ्रियन्ते ते, मृताः पुनर्भवन्ति च ।”

जो जन्मते हैं, वे मरते हैं, जो मरते हैं उनका पुनर्जन्म भी होता है। यह पूर्वजन्म व पुनर्जन्म ही ससार की यात्रा है। प्रत्येक ससारी प्राणी सशरीरी होता है। वह जन्मान्तर की यात्रा सूक्ष्म शरीर से करता है। कर्म शरीर और तैजस् शरीर, जिसे विद्युतीय शरीर भी कह सकते हैं—सूक्ष्म होते हैं और वे मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहते हैं। मरणोपरांत स्थूल-शरीर पीछे छूट जाता है। कर्म शरीर कारण शरीर है। उसके आधार पर जीव नए शरीर का निर्माण कर लेता है।

गेहात् गेहान्तरं यान्ति मनुष्या गेहवर्तिन ।

देहात् देहान्तर यान्ति प्राणिनो देहवर्तिनः ॥ (सबोध १५।२३)

जैसे गृहस्वामी मनुष्य एक घर को छोड़, दूसरे घर में चला जाता है, वैसे ही देहवर्ती प्राणी एक देह को छोड़, दूसरी देह का निर्माण कर लेते हैं। इस जन्मान्तर-गामिनी यात्रा के चार पड़ाव हैं। जैन तत्त्व की भाषा में इसे चार गति के रूप में जाना जाता है।

गति का अर्थ है—एक जन्म स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा। गति चार हैं—

१ नरक गति ।

२. तिर्यञ्च गति ।

३ मनुष्य गति ।

४ देव गति ।

नारक — नरक गति में रहने वाले जीव नारक कहलाते हैं । नारक जीवों के आवास-स्थल रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा आदि सात पृथ्वियाँ हैं । ये पृथ्वियाँ नीचे लोक में हैं । वहाँ के निवासी कष्ट-बहुल जीवन जीते हैं । अत्यधिक शारीरिक और मानसिक यातनाएँ भोगते हैं । उनकी यातना—वेदना तीन प्रकार की होती है—

१. उस क्षेत्र के प्रभाव में होने वाली वेदना ।

२ नारक जीवों द्वारा परस्पर लड़ाई-झगडा कर उत्पन्न की गई वेदना ।

३ परमाधार्मिक देवों द्वारा दी जाने वाली वेदना ।

इन देवों द्वारा दी जाने वाली यातना प्रथम तीन नरक भूमियों में होती है । उससे आगे दो ही प्रकार की वेदना रहती है । नारक जीवों की वेदना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । इन नरक भूमियों में उन जीवों को जाना पड़ता है, जो अत्यन्त क्रूर कर्मों व बुरे विचारों वाले होते हैं । जैन-दर्शन के अनुसार रत्नप्रभा नाम की प्रथम नरक भूमि के ऊपर यह मनुष्य लोक अवस्थित है ।

तिर्यंच—मनुष्य के सिवाय सारे दृश्यमान प्राणी-जगत् का समावेश तिर्यंच गति में हो जाता है । जीव जगत् का बहुत बड़ा भाग इसमें समा जाता है । यानी जीवों की सर्वाधिक संख्या इसी गति में है । एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवों तक सभी जीव तिर्यंच ही होते हैं । पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति (पेड़-पौधे आदि) एक इन्द्रिय तिर्यंच है । कृमि, चीटी, मक्खी, मच्छर—ये क्रमशः दो, तीन एवं चार इन्द्रिय वाले प्राणी हैं । ये सभी तिर्यंच हैं । कुछ पचेन्द्रिय जीव भी तिर्यंच होते हैं, जैसे—पशु-पक्षी आदि । पचेन्द्रिय तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं । मछली आदि जलचर पचेन्द्रिय है । गाय, भैंस आदि स्थलचर पचेन्द्रिय हैं ।

तिर्यंच गति में कुछ जीव बहुत शक्तिशाली होते हैं । उनमें ज्ञान-धेतना भी विकसित होती है । कभी-कभी लगता है, उनकी शक्ति और बुद्धि व सामान्य मनुष्य का शरीर-बल और बुद्धि-बल नगण्य है । फिर भी उनकी अपेक्षा मनुष्य योनि श्रेष्ठ है । इसका कारण यह है कि मनुष्य की विवेक-चेतना जागृत होती है । अन्य प्राणियों में उसका अभाव होता है । इस दृष्टि में तिर्यंच गति का अप्रशस्त माना गया है ।

मनुष्य—जिसमें चिंतन, मनन और अनुशीलन की क्षमता होती है, वह मनुष्य है । मनुष्य सर्वाधिक विकसित चेतना वाला प्राणी है । उसमें दिवांग भी अनन्त सहायताएँ हैं । मृत्यु के पश्चात् वह पुनः मनुष्य देह धारण कर सकता है तथा देव-गति, तिर्यंच योनि या नैरयिक स्थिति को भी

प्राप्त कर सकता है। अध्यात्म साधना द्वारा चेतना का विकास कर वह नर से नारायण बन सकता है, आत्मा से परमात्मा बन सकता है। सरल भाषा में समझें तो गतियों में एक मनुष्य गति ही ऐसी है, जहाँ से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। मनुष्य में वह क्षमता है कि यदि वह ऊपर उठे तो लोक शीर्ष पर सिद्धात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है और गिरे तो महानरक—सातवीं नरक भूमि में भी जा सकता है। यह सब आत्मा की शुद्धि, अशुद्धि तथा उसकी तरतमता पर निर्भर है।

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—कर्म-भूमिज, अकर्म-भूमिज और समूर्च्छिम। कर्म-भूमिज मनुष्य कर्म-क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। वे असि, मसि, कृषि आदि साधनों द्वारा जीविका चलाते हैं। ऋषि-परम्परा के सवाहक कर्म-क्षेत्र में उत्पन्न मनुष्य ही बनते हैं। ये मनुष्य पुरुषार्थ-प्रधान होते हैं।

अकर्म-भूमिज मनुष्य “योगलिक” कहलाते हैं। इन्हें जीवन-निर्वाह के लिए असि, मसि, कृषि रूप पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। उनके जीवन-यापन के साधन कल्पवृक्ष होते हैं। उनके जीवन की आवश्यकताएँ इतनी न्यूनतम होती हैं कि कल्पवृक्ष से जो कुछ प्राप्त होता है, उसी से वे सतुष्ट हो जाते हैं।

समूर्च्छिम मनुष्य नाम से तो मनुष्य ही हैं, पर उनमें मनुष्यता जैसा कुछ भी नहीं है। मानव-शरीर से विसर्जित मल-मूत्र आदि चौदह स्थानकों में उन जीवों की उत्पत्ति है। वे पचेन्द्रिय होते हैं, पर असंज्ञी (असंज्ञी) होते हैं। उनमें मानसिक संवेदन नहीं होता। उन्हें मनुष्य गति प्राप्त है, पर प्रगति के द्वार बन्द हैं। अल्पायुष्य होने के कारण अपर्याप्त दशा में मर जाते हैं।

देव—दिव्य लोक में विहार करने वाले देव कहलाते हैं। देवों का शरीर दीप्तिमान होता है। वह मनुष्य शरीर की भाँति अस्थि, मज्जा आदि घातुओं से निर्मित नहीं है। उनके शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं। देव इच्छानुसार विविध रूपों का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रक्रिया को विक्रिया (विकुर्वणा) कहते हैं।

जैन-आगमों में देवों के चार प्रकार बतलाए गए हैं—भवनपति, वानव्यतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

असुर कुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवों के आवास नीचे लोक में हैं। पिशाच, भूत, यक्ष आदि व्यतर देव तथा सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव (निररुधे) मध्य लोक में रहते हैं। वैमानिक देव दो प्रकार के हैं— १ कल्पोपन्न २ कल्पातीत। वारह देवलोक के देव कल्लोपन्न हैं। वहाँ का मचालन स्वामी-सेवक आदि व्यवस्थाओं के आधार पर होता है। उनसे ऊपर नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत होते हैं। वे देव स्वयं ज्ञासित हैं। व्यवस्थाएँ स्वयं संचालित हैं। वहाँ स्वामी-सेवक

जमी कोई भेद-रेखा नहीं है। वहा का प्रत्येक सदस्य अर्हमिद्र है।

देवता व नारक जीव अपनी गति का आयुष्य पूर्ण कर पुन देव और नारक नहीं बन सकते। मनुष्य और तिर्यंच चारो गतियो मे से किसी भी गति मे उत्पन्न हो सकते हैं। मोक्ष की प्राप्ति केवल मनुष्य गति से ही सभव है।

मनुष्य व पशु-पक्षी आदि तिर्यंच हमारे प्रत्यक्ष हैं। स्वर्ग व नरक हमारे प्रत्यक्ष नहीं हैं। सामान्यत मनुष्य का विश्वास प्रत्यक्ष पर होता है, परोक्ष पर नहीं। वह परोक्ष या अदृश्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा —

नरको नाम ना स्तीति नैव सज्ञा विवेशयेत् ।

स्वर्गो नाम ना स्तीति नैव सज्ञा निवेशयेत् ॥ (संबोधि १०/२६)

नरक नहीं है—ऐसा सकल्प मत करो। स्वर्ग नहीं है—ऐसा सकल्प मत करो। प्रत्यक्ष न होने मात्र मे किसी के अस्तित्व को नकार देना सत्य क साय आख-मिचोनी करना है। वैसे सभी आस्तिक दर्शन स्वर्ग व नरक के अस्तित्व को मानते हैं।

गति-चक्र की मीमासा के सदर्थ मे यह जानना भी आवश्यक है कि प्राणी कौन-से आचरण से किस गति मे जाता है, किस योनि मे उत्पन्न होता है।

नरक गति के कारण

पचेन्द्रिय वध, महा-आरम्भ (हिंसा), महा-परिग्रह और मासाहार— ये नरक गति के हेतु हैं।

तिर्यंच गति के कारण

माया-प्रवचना, असत्य भाषण और कूट-तोल, कूट-माप ये तिर्यंच गति के हेतु हैं।

मनुष्य गति के कारण

विनीत, सरल, अल्पारभी, अल्प-परिग्रही, दयालु और मात्सर्य रहित होना मनुष्य गति का हेतु है।

देव गति के कारण

नराग सयम — अवीतराग दशा मे होने वाली सयम-नाधना, श्रावक धर्म या पालन करना, अकाम-निजरा — मोक्ष की इच्छा बिना किए गए तप न होने वाली आत्मघृद्धि और अज्ञान तप—ये देव गति के हेतु हैं।

इन चारो गतियो मे सप्तरी प्राणी अपने कृत कर्मों का भोग करते हैं। प्राणी जेना कर्म करता है, वैसा फल भोगता है। किंतु इनका तात्पर्य यह नहीं है कि इन जन्म मे किए गए सुकृत या दुष्कृत का परिणाम अगले

जन्म में ही मिलता है। वस्तुतः देखा जाए तो स्वर्गीय सुख, नारकीय दुःख, पशुता और मानवता ये सब मानवीय मनोवृत्ति, उनके चिंतन और व्यवहार पर निर्भर है। समय और सतुलन का जीवन जीने वाला इसी जन्म में स्वर्गीय सुखों का अनुभव करता है। इसके विपरीत वासना, व्यसन और विवेक-हीनता का जीवन जीने वाला इसी जन्म को नरक बना लेता है।

स्वर्ग और नरक की व्याख्या के पश्चात् शिक्षक ने छात्रों से पूछा— विद्यार्थियों ! आप में से नरक जाना कौन पसन्द करेगा ? स्वीकृति में किसी का हाथ ऊपर नहीं उठा। शिक्षक ने दूसरी बार पूछा—अब बताए, स्वर्ग जाना कौन पसन्द करेगा ? एक लड़के को छोड़ सबके हाथ ऊपर उठ गए। शिक्षक ने पूछा क्यों मनीष ! तुम्हें कहीं नहीं जाना है ? मनीष का उत्तर था—मुझे कहीं जाने की अपेक्षा नहीं है, मैं जहाँ रहूँगा, वही स्वर्गीय वातावरण का निर्माण करूँगा।

पाशविक वृत्तियों का परिष्कार कर मानवीय चेतना का विकास ही दिव्यता की दिशा को उजागर करता है।

संदर्भ —

१. सबोधि १५/२२, २३।
२. जैन तत्त्व विद्या १/५।
३. ठाण—४/४/६२८ से ६३१।

शक्ति-स्रोत-पर्याप्ति

मानसिक जीव किसी न किसी रूप में प्रवृत्ति करता रहता है, जैसे—आहार, स्पन्दन, सवेदन, चिन्तन, मनन, भाषण आदि। ये सब क्रियाएँ विभिन्न शक्तियों के द्वारा ही संपादित होती हैं। इनमें से पहली शक्ति है प्राण तथा दूसरी शक्ति है पर्याप्ति की। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति शक्ति—एक-दूसरे के सहयोग से ही प्राणी अपनी जीवन-यात्रा चलाता है।

प्राण आत्मिक शक्ति है, पर्याप्ति पौद्गलिक शक्ति। जैसे—बोलने में जो ध्वनि का आत्मीय प्रयत्न होता है वह प्राण है और उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्गलों का संग्रह करती है, वह है पर्याप्ति।

पर्याप्ति

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं हो जाती, उसकी जन्म-मरण की परंपरा नहीं रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना, एक देह त्याग कर दूसरे देह का निर्माण करना। जन्मांतर-यात्रा के समय प्राणी का स्थूल शरीर छूट जाता है, वह सूक्ष्म शरीर—तंतुमय, पार्श्व के वाहन पर आरूढ़ हो, आगे की यात्रा तय करता है। भावी जन्म में उन्हीं सूक्ष्म शरीरों के माध्यम से पुनः नये स्थूल शरीर का निर्माण करता है। उसकी प्रश्रिया और श्रम भी ज्ञातव्य है।

जीव एक जन्म-स्थिति को पूरी कर दूसरे जन्म-स्थान में आता है, तब वह सबसे पहले आहार ग्रहण करता है, स्वप्रायोग्य पुद्गलों का आकर्षण और संग्रह करता है। इसके अनंतर वह समूचे जीवन-निर्वाह के लिये पौद्गलिक शक्तियों का श्रमिक विकास करता है।

मानसिक प्राणी को चाहे वह किसी भी जीव-योनि में उत्पन्न हो, जीवित रहने के लिए किसी पुष्ट आलवन की अपेक्षा रहती है। वह आलवन प्राण-शक्ति का ही है, उसके साथ एक विभिन्न प्रकार की पौद्गलिक शक्ति भी आवश्यक है जो जैन ग्रन्थों में "पर्याप्ति" के नाम से पहचानी जाती है।

पर्याप्ति का गीष्म अर्थ है—जीवन-धारण में उपयोगी पौद्गलिक शक्ति। यह जीव-विज्ञान का पारिभाषिक शब्द है।

"भक्षारभे पौद्गलिक सामर्थ्य-निर्माण पर्याप्ति" (जैन त्रिपिका)

३/१०) जन्म के प्रारम्भ में पौद्गलिक सामर्थ्य के निर्माण को पर्याप्त कहते हैं।

जन्म के प्रारम्भ में तैजस-कामर्ण शरीर द्वारा गृहीत पुद्गल-समूह से जीव जिस जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति या शरीर-उपकरणों का निर्माण करता है, वह पर्याप्त है। यानी वह उन गृहीत पुद्गलों को आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन आदि रूपों में परिणत कर वैसे पौद्गलिक क्षमताओं का अर्जन कर लेता है जिसमें, उसकी जीवन-यात्रा में कठिनाई न हो। वे शक्तियाँ मुख्यतः ६ प्रकार की होती हैं, अतः पर्याप्तियाँ भी छह हैं— (१) आहार पर्याप्त (२) शरीर पर्याप्त (३) इन्द्रिय पर्याप्त (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्त (५) भाषा पर्याप्त (६) मन पर्याप्त।

जैन तत्त्व ज्ञान में दो शब्दों का काफी प्रयोग होता है—पर्याप्त और अपर्याप्त। पर्याप्त का मीधा अर्थ होना है पूर्ण, अपर्याप्त का सामान्य अर्थ समझा जाता है अपूर्ण। किन्तु यहाँ इसका अर्थ भिन्न होता है। जिस प्राणी को जिस जीवन में जिनकी पर्याप्तियाँ का प्रवध करना होता है, वह प्रवध पूरा हो जाता है तो वह प्राणी पर्याप्त कहलाता है, जब तक वह काम पूरा न हो जाये वह अपूर्ण है अपर्याप्त है। पर्याप्त-निर्माण से पूर्व ही जिस जीव की मृत्यु हो जाती है, वह भी अपर्याप्त कहलाता है। ये पर्याप्तियाँ देहधारी प्राणियों के शक्ति-स्रोत हैं।

पर्याप्तियों के लाभ

(१) आहार पर्याप्त को पूर्ण कर लेने वाला प्राणी शरीर आदि पाँचों पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण कर लेता है। इसके द्वारा वह जीवन में आहार करने की क्षमता अर्जित कर लेता है। प्राण धारण करने के लिए द्राहरी पुद्गलों का आकर्षण आहार कहलाता है। प्राणी छहों पर्याप्तियों (शक्ति-स्रोतों) के लिए आहार ग्रहण करता है। वह छहों दिशाओं में चला जाता है। इनमें ऊर्ध्व दिशा अर्थात् मिर और अधो दिशा अर्थात् पैरो के आहार का ग्रहण अद्विक मात्रा में होता है। आहार पर्याप्त द्वारा जीव जीवन में आहार-प्रायोग्य पुद्गलों के ग्रहण, परिणमन और विनर्जन करने की क्षमता अर्जित कर लेता है।

(२) शरीर पर्याप्त द्वारा शरीर के अगोपांगों का निर्माण होता है। शरीर पर्याप्त के कार्य को शरीर-शास्त्रीय दृष्टि में अद्विक स्पष्टता के साथ समझना संभव है।

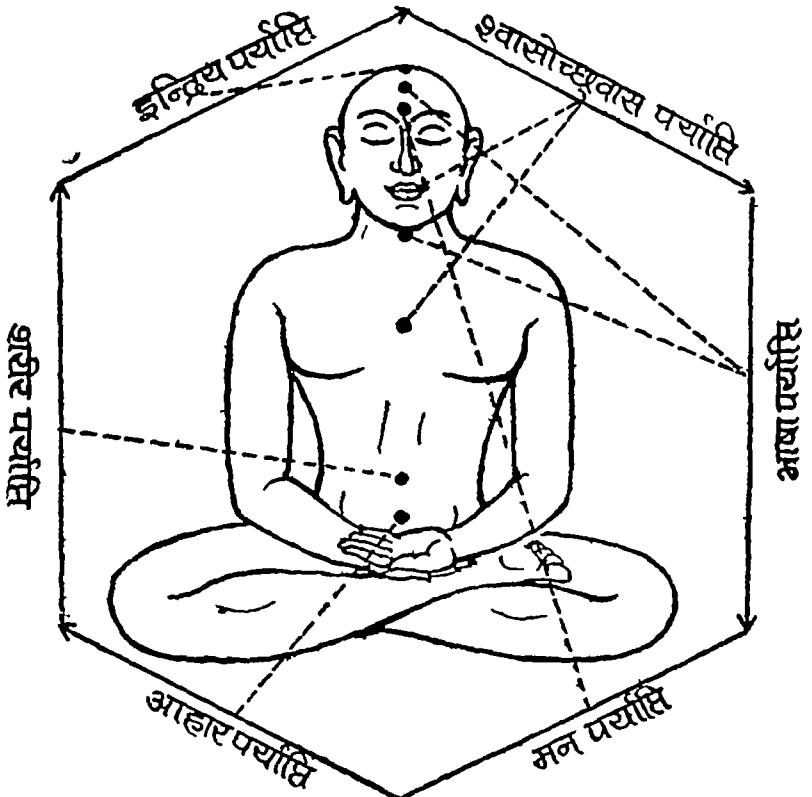
प्रत्येक जीव चाहे वह छोटा प्राणी हो या मनुष्य, अपने जीवन का प्रारम्भ एक कोशिका में करता है। एक कोशिका में प्रारम्भ कर मनुष्य का जीव कोशिका-विभाजन द्वारा अपने आपका पुनः दोगुना करता है। इस

लिये तथा व्यक्तियों के आने-जाने के लिए द्वार, जाली झरोखे तथा खिड़किया रखी जाती हैं, वैसे ही चेतना की रश्मियों के निर्गमन तथा प्रकटीकरण के माध्यम हैं—इन्द्रिया, श्वासोच्छ्वास तथा भाषा पर्याप्ति ।

मकान बनाने के बाद मकान-मालिक उसका उपयोग आवश्यकता और मौसम के अनुसार करता है । जैसे सर्दी में निवाये कमरो का तथा गर्मी में ठंडे-हवादार कमरो का । खिड़कियों को कब खोलेगा, कब बन्द करना—यह सब भी उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है । इसी प्रकार कब क्या करना है, कैसे करना है, यह सब शक्ति मन पर्याप्ति सापेक्ष है ।

ये छह पर्याप्तियां स्थूल शरीर के छह शक्ति-स्रोत हैं और तैजस शरीर के सवादी केन्द्र हैं । इनके माध्यम से ही प्राण के परमाणुओं का आकर्षण, परिणमन और उत्सर्जन होता है ।

इसका रेखांकन इस प्रकार है —



शरीर में पर्याप्तियों का स्थान :—

पर्याप्ति

स्थान

आहार पर्याप्ति

स्वास्थ्य-केन्द्र; शक्ति-केन्द्र

शरीर पर्याप्ति

नाभि-तैजस-केन्द्र

इन्द्रिय पर्याप्ति	मस्तिष्क के विभिन्न भाग
श्यामाच्छ्रयान पर्याप्ति	नाक से श्वास नली और पुष्पकत तक
भाषा पर्याप्ति	अथ मस्तिष्क में स्वर यंत्र, ज्योति-केन्द्र
मन पर्याप्ति	मस्तिष्क-दर्शन-केन्द्र का भाग ।

य शक्ति ज्ञान जीवन के प्रारम्भ में पूर्ण ही निष्पन्न हो जाते हैं, और जीवन भर मग्निय रहते हैं ।

आहार पर्याप्ति एक समय में पूर्ण हो जाती है । तथा पाच पर्याप्तियों भी निष्पत्ति में एक-एक अतिसूक्ष्म समय लगता है, लेकिन सब के निर्माण-काल का प्रारम्भ एक साथ होता है ।

सब समान प्राणियों के पर्याप्तियाँ एक समान नहीं होती, उनमें कम-हूट आरम्भ होता है । पाच स्थावर शायिक जीवों—पृथ्वी, जल, हवा, अग्नि और चर्यवति में चार पर्याप्तियाँ होती हैं, उनमें भाषा और मन नहीं आता ।

तीन विकल्पेन्द्रिय—श्रोत्रिय, शीन्द्रिय और चतुर्गिन्द्रिय तथा अमशी-निग्रथ पक्षिन्द्रिय जीवों में पर्याप्तियाँ पाच होती हैं । उनके मन नहीं होता । देवों में पाच पर्याप्तियाँ आती हैं, उनके मन तथा भाषा पर्याप्ति का केन्द्र एक ही होता है ।

असली मनुष्य के प्रथम तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं । और श्यामाच्छ्रयान पर्याप्ति अपूर्ण रह जाती है । इनतिष्ठ मिट्टाव की भाषा में उच्च माहा तीन पर्याप्तियाँ आती हैं । मूल बात यह है कि उनका श्वास-प्रश्वास भी वा उपकरण रहना दुर्बल होगा है कि उनके प्रश्वास की शक्ति निष्पन्न हो सकती है, श्वासन की शक्ति सम्भव नहीं होती ।

चर्य, मर्ग, निग्रथ और मनुष्य में पर्याप्तियाँ छह होती हैं । मिट्टी में पर्याप्तियाँ नहीं होती । शुद्ध पर्याप्तियाँ ज्ञान कर्म के उदय के प्राप्त होती हैं । जबकि मिट्टी कर्म-रूप रहते हैं ।

जीवो के क्रमिक विकास की दृष्टि से इन्द्रिय, मन आदि का जितना मूल्य है, पर्याप्तियों का मूल्य उनसे कम नहीं है। ये भौतिक होते हुए भी प्राण-शक्ति की संचालिका है। चित-शुद्धि, मस्तिष्क-विकास तथा आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से भी पर्याप्त-विज्ञान बहूत ही मूल्यवान् है।

संदर्भ --

- १ जैन सिद्धान्त दीपिका ३/१०, ११ (गणाधिपति श्री तुलसी)
- २ जैन तन्त्र विद्या पृष्ठ ९, २५, २८ (गणाधिपति श्री तुलसी)
- ३ जैन दर्शन - मनन और नीमामा पृष्ठ २५६ (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)
- ४ प्रेक्षाध्यान— प्राणविज्ञान (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

जीवन-शक्ति-प्राण

ससार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—सजीव और निर्जीव । इन दोनों पदार्थों की रचना रासायनिक तत्त्वों के संयोग-वियोग से होती है । जीव-द्रव्य (प्रोटोप्लाज्मा) की आतंरिक संरचना में कोई रासायनिक विलक्षणता वैज्ञानिक प्रयोगों से मिल्द नहीं हुई है । ऐसी स्थिति में प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर ऐसी कौनसी गुणात्मक भिन्नता है, जो सजीव और निर्जीव के बीच भेद-रेखा उत्पन्न करती है । जैन सिद्धांत के अनुसार जीव और निर्जीव की विभाजक रेखा है—पर्याप्ति और प्राण । जिनमें आहार करने, शरीर-रचना करने तथा श्वास लेने की शक्ति है, वे जीव हैं, जिनमें ये शक्तियाँ नहीं हैं, निर्जीव हैं । पर्याप्ति और प्राण का योग ही जीवन है । इनका वियोग मृत्यु है ।

भाषा-शक्ति और चिंतन-शक्ति जीव के लक्षण नहीं हैं, किंतु वे विकास में अग्रिम विद्युत हैं ।

हम निरन्तर अपने शरीर के साथ रहते हैं । उसकी देखभाल का पूरा ध्यान रखते हैं । उसमें विकास और स्वास्थ्य के प्रति सजग रहते हैं । पर शरीर रूपी यंत्र किन शक्तियों से संचालित है—यह बहुत कम लोग जानते हैं ।

हमारा शरीर जिन शक्तियों से संचालित है, उसमें एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है "प्राण" । हमारा सारा जीवन प्राण रूपा इंधन में ही संचालित है । इसे आधुनिक विज्ञान की भाषा में "वाइटल फोर्स" कह सकते हैं ।

जीवन-शक्ति प्राणा

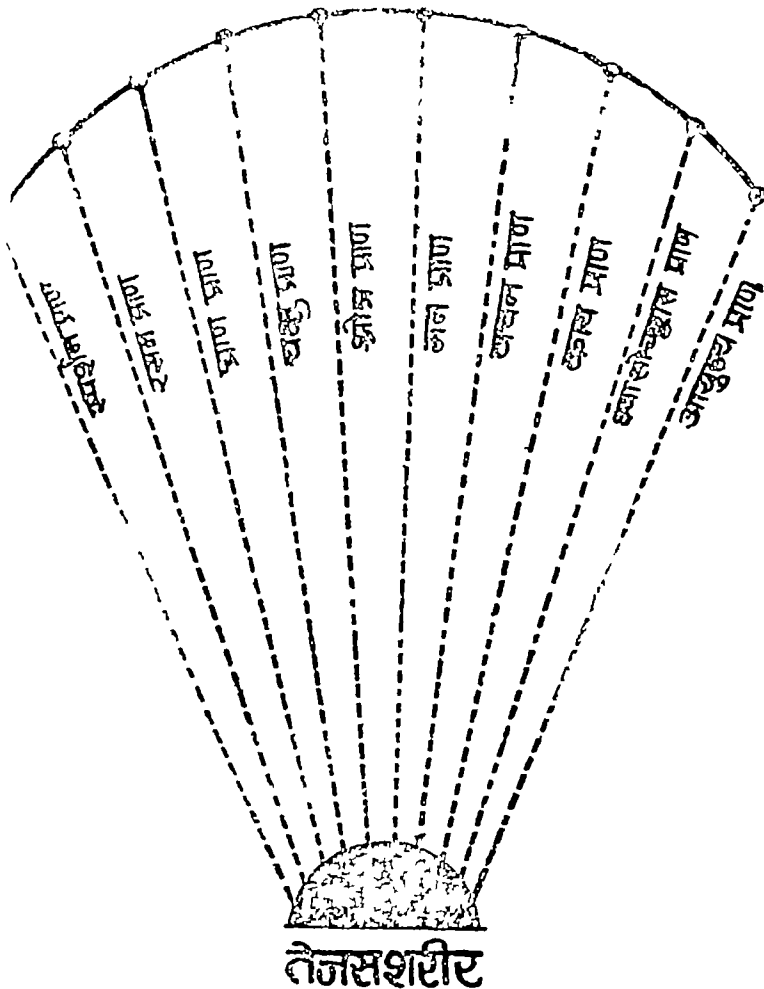
"इन्द्रियबलोच्छ्वासनि श्वासायूषि" (आचार्यश्री तुलसी)

जैन सिद्धांत दीपिका ३/१२-१३ ।

प्राण का अर्थ है जीवनी शक्ति । जीवन के लिए भोजन, पानी और हवा जितने आवश्यक हैं, उनमें कहीं जटिल जरूरी है प्राण-शक्ति । स्थूल शरीर में जितनी नम्रियता और गतिशीलता है उसका कारण प्राण-शक्ति ही है । इनके शब्दों में कहें तो मन, वाणी और कर्म की संपादन-शक्ति का नाम प्राण है । हमारे शरीर मन, चित्त और भावधारा के जो भी संपादन, प्रकल्पन हैं, जो भी गतिशीलता है, उसका स्रोत है—प्राण का प्रवाह । हमारे अन्न-पान जो शक्ति, ऊर्जा, प्रमाण और चुम्बकीय धाराएँ गुजरती हैं, वे प्राण-शक्ति के प्रमाण हैं ।

प्राण-शक्ति का मूल्य-स्रोत तैजस शरीर है। तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर में फैला हुआ है। फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र हैं—मस्तिष्क और पृष्ठभाग। वहाँ से निकलकर तैजस शक्ति शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करती है। हालांकि तैजस शरीर से एक प्रकार की प्राण-शक्ति प्रवाहित होती है। यह प्राण-शक्ति स्थूल-शरीर के साथ जुड़कर अनेक प्रकार के कार्य करती है। कार्य-भेद के कारण वह दस भागों में विभक्त हो जाती है।

निम्नांकित रेखाकन से प्राण की उत्पत्ति और उसके परिपथों का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है.—



प्राण दम हैं—

- १ क्षोत्रेन्द्रिय प्राण
- २ चक्षुरिन्द्रिय प्राण
- ३ घ्राणेन्द्रिय प्राण
- ४ रसनेन्द्रिय प्राण
- ५ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण
- ६ मनोबल प्राण
- ७ वचन बल प्राण
- ८ कायबल प्राण
- ९ श्वासोच्छ्वास प्राण
- १० आयुष्य बल प्राण

इससे ज्ञात होता है कि हमारे शरीर में अनेक प्रकार की प्राण-धाराएँ हैं। इन्द्रिय की अपनी प्राण-धारा है। मन, शरीर और वाणी की अपनी प्राण-धारा है। श्वास-प्रश्वास तथा जीवनी-शक्ति की भी स्वतंत्र प्राण-धाराएँ हैं। चेतना का तैजस-शरीर के साथ योग होता है और प्राण-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इन प्राण-धाराओं के आधार पर शरीर की विभिन्न क्रियाओं का संचालन होता है।

इस सदर्भ में एक बात विशेष ज्ञातव्य है कि पर्याप्ति और प्राण—ये न तो चेतना की विशुद्ध अवस्था में होते हैं और न अचेतन में होते हैं। ये चेतन और अचेतन के संयोग में उत्पन्न होते हैं। ससार में जितने प्राणी हैं, वे सब योगिक हैं। चेतन और अचेतन (पुद्गल) के संयोग की अवस्था में हैं। चैतन्य का शुद्ध स्वरूप प्रकट न होने के कारण वे केवल चैतन्य की भूमिका में अवस्थित नहीं हैं। वे न्यूनाधिक मात्रा में ही सही अनुभव-शक्ति और ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न हैं। इसलिये केवल अचेतन (जड) की भूमिका में नहीं हैं बल्कि चेतन और अचेतन की संयुक्त भूमिका में हैं।

प्राणियों के शरीर के माध्यम से जो क्रियाएँ होती हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक शक्ति दोनों के पारस्परिक सहयोग से सम्पन्न होती हैं। पर्याप्ति पौद्गलिक शक्ति है और प्राण आत्मिक शक्ति है।

पर्याप्तियाँ शक्ति-स्रोत हैं, जबकि प्राण शक्ति-केन्द्र। इनमें परस्पर काय-कारण-संबंध है। सद्यः-विस्तार को संक्षेप में लेने पर दोनों की सद्यः समान हो जाती है।

पर्याप्ति

प्राण

आहार पर्याप्ति

आयुष्य प्राण

शरीर पर्याप्ति

वायु बल प्राण

इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय प्राण
श्वसोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वसोच्छ्वास प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचनबल प्राण
मन पर्याप्ति	मनोबल प्राण

इस प्रकार उक्त पर्याप्तियाँ और प्राण सापेक्ष है ।

प्राण जीवन-शक्ति है और पर्याप्ति भौतिक-शक्ति । जीवन-शक्ति को मर्यादा पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है । इसलिये प्रत्येक प्राणी नये जन्म के प्रारम्भ में ही अनेक प्रकार की पौद्गलिक शक्तियों की रचना करता है ।

जैसे पर्याप्तियाँ सब जीवों में समान नहीं होती, वैसे ही प्राण-शक्तियाँ भी सब में बराबर नहीं होती । तथापि जीने के लिए कम से कम चार प्राण-शक्तियाँ तो अवश्य होती हैं । शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय—ये चार जीवनी-शक्तियाँ प्राणी-जगत के जीवन हेतु आधारभूत मानी जाती हैं । अर्थात् जीवन-यापन के लिये कम से कम चार प्राण-शक्तियों का होना तो जरूरी है । जैन जीव-विज्ञान के अनुसार सबसे कम विकसित चेतना वाले जीव हैं—एकेन्द्रिय—पाँच स्थावर निकाय के जीव । उनमें चार प्राण हैं । उनके आगे चेतना का जितना-जितना अधिक विकास होता है, त्रीन्द्रिय आदि जीवों में प्राण-शक्तियाँ भी क्रमशः विकसित होती हैं । सभी पनेन्द्रिय जीवों को दसों प्राण-शक्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं ।

प्रश्न होता है, तात्त्विक दृष्टि से पर्याप्तियों और प्राण-शक्तियों को जान लेने में क्या हमारे अस्तित्व और व्यक्तित्व के विकास की नई दिशाएँ उद्घाटित हो सकती हैं ?

प्रेक्षा-ध्यान और जीवन विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक दिया जा सकता है ।

उन शक्ति-स्रोतों और शक्ति-केन्द्रों के विकास में ही विकास की सम्पूर्ण दिशाएँ प्रस्फुटित होती हैं, प्रसरती हैं और परिष्कृत होती हैं । हममें शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास की ऊँचाइयों को हासिल किया जा सकता है । हमारे प्रत्येक कार्यक्षेत्र की सफलता के आधारभूत तत्त्व—इच्छा शक्ति का विकास, मकरूप शक्ति का विकास, लक्ष्यता की शक्ति का विकास—ये हमारे प्राण ऊर्जा के विकास पर निर्भर हैं । प्राण हमारे शरीर की विद्युत ऊर्जा है । आधुनिक विज्ञान के यांत्रिक विकास और रासायनिक विकास का स्रोत विद्युतीयशक्ति का विकास ही है । कंप्यूटर, मशीन, वायटन और रोबोट युग का विकास भी विद्युत का ही चमत्कार है ।

वद्विज समान व सभी प्राणियों को प्राण की शक्ति प्राप्त है, पर उनके विकास की शक्तियाँ सब में नहीं होती । मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो प्राण-ऊर्जा का प्राण, विद्युत का पर्याप्त विकास कर चेतना के नये

आयाम मे प्रवेश पा सकता है ।

दीर्घ श्वास प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, श्वास सयम, शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, मन्त्र, जप आदि प्रयोगो से प्राण विद्युत् भचित, सतुलित और विकसित होती है । इससे मनुष्य शरीर का केन्द्रीय-नाडी सस्थान और परिधिगत नाडी सम्भान सशक्त बनता है । मानवीय मस्तिष्क की अपार क्षमताएँ जाग जाती हैं । भावना-तन्त्र निर्मल और नियन्त्रित होता है । इससे मानवीय व्यवहारो का परिष्कार होता है, वृत्तियो मे परिवर्तन होता है । अत अपेक्षित है, हम अपने जीवन-विकाम के मौलिक आधार "पर्याप्त और प्राण" को मात्र सैद्धांतिक दृष्टि मे ही न जानें, अध्यात्म विकास तथा साधना के विभिन्न कोणो से भी जानें ।

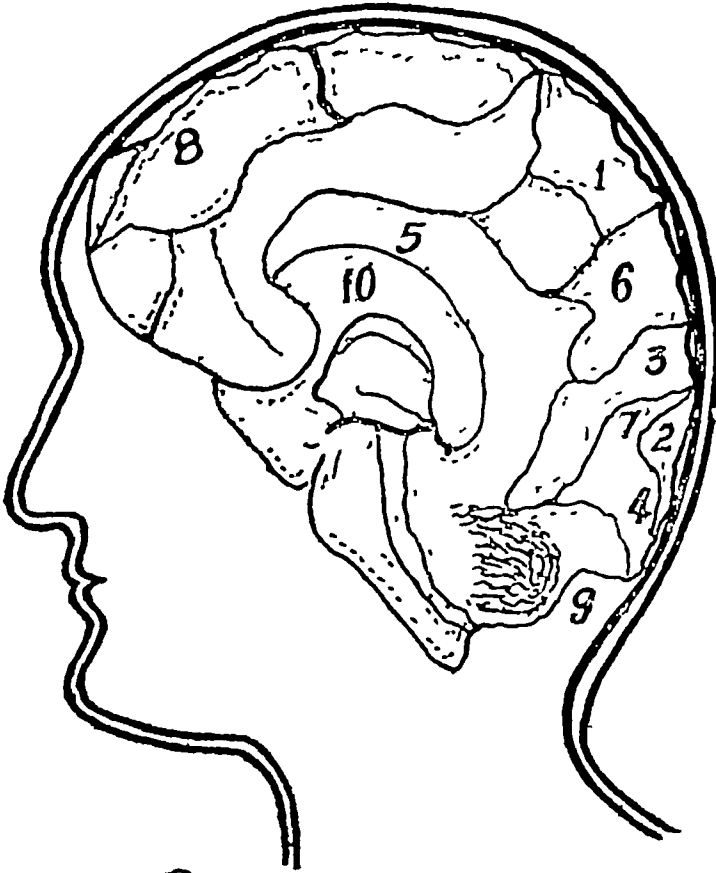
प्रेक्षा-ध्यान के आलोक मे हमे यह भी जानने को मिला है कि पर्याप्तियो और प्राण-शक्तियो के मूल केन्द्र-बिन्दु हमारे शरीर मे कहा है ? जिनकी प्रेक्षा कर हम उन्हें और अधिक निर्मल एव जागृत बना सकते हैं ।

एहो पर्याप्तियो से सवधित दस प्राणो के केन्द्र हमारे मस्तिष्क मे है ।

इन्द्रिय पर्याप्ति और प्राण के पाच केन्द्र हैं —

- (१) स्पर्शन का केन्द्र—ज्ञान-केन्द्र और शांति-केन्द्र के मध्य का भाग ।
- (२) रसन का केन्द्र—बृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क के सधि स्थल से षोडा ऊपर ।
- (३) घ्राण का केन्द्र—चक्षु-केन्द्र की सीध मे दाये भाग में ।
- (४) चक्षु का केन्द्र—ज्ञान-केन्द्र के पीछे बृहत् मस्तिष्क के अत मे ।
- (५) श्रोत्र का केन्द्र—कनपटी की सीध में भीतर ।
- (६) मन का केन्द्र—ज्ञान केन्द्र ।
- (७) भाषा का केन्द्र—रसना-केन्द्र के नीचे ।
- (८) शरीर का केन्द्र—मस्तिष्क के विल्युल सामने का भाग—फ्रंटल लोव ।
- (९) श्यामोच्छ्वास का केन्द्र—मेहूना औवनोगाय—लघु मस्तिष्क के नीचे और नृप्म्ना शीप के ऊपर ।
- (१०) आहार-आमुष्य प्राण का केन्द्र—हाइपोथेलेमन । (शांति केन्द्र) की सीध में भीतर गहरे में ।

निम्नांकित चित्र से यह और स्पष्ट हो जाएगा —



मस्तिष्क में दश प्राण प्रेक्षाकेन्द्र

प्राण शक्ति का विकास भी पर्याप्तियों के विकास और परिष्कार के बिना संभव नहीं है ।

आहार-सयम, योगासन, इन्द्रिय-सयम; श्वास-सयम, श्वास-प्रेक्षा, मोन, स्वर-यत्र का कायोत्सर्ग तथा ध्यान-योग—ये क्रमशः छोटी पर्याप्तियों या शक्ति-स्रोतों को पुष्ट और निर्मल बनाने के उपाय हैं । आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण में उक्त उपाय अहं भूमिका निभा सकते हैं ।

संदर्भ

- १ जैन मिथ्यात दीपिक — ३/१२-१३ (गणाधिपति श्री तुलसी)
- २ जैन नत्त्व-विद्या—पृष्ठ २७ (गणाधिपति श्री तुलसी)
- ३ जैन दर्शन . मनन और मोक्ष, पृष्ठ २५६ (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)
- ४ प्रेक्षाध्यान प्राण-विज्ञान (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

शरीर और उसका आध्यात्मिक मूल्य

हमारा अस्तित्व चेतन और अचेतन का जटिलतम संयोग है। चेतन है हमारी आत्मा और अचेतन है शरीर।

आत्मा अरूप है, अरस है, अगंध है और अस्पर्श है, इसलिए वह अदृश्य है। शरीर से बंधी हुई है, इस दृष्टि से दृश्य भी है। ससारी आत्मा शरीर-मुक्त नहीं रह सकती। वह स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी-न-किसी शरीर के आश्रित रहती है। चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम शरीर है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध चिर-पुरातन है। जैन सिद्धांत की भाषा में अनादि है।

परिभाषा

“सुख-दुःखानुभवसाधनम् शरीरम्” (जै० सि० दी० ७/२४)। जिस के द्वारा पीद्गलिक सुख-दुःख का अनुभव किया जाता है, वह शरीर है।

जीव की जितनी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सब शरीर के माध्यम से ही होती हैं। शरीर में सामान्यतः हमारा तात्पर्य इस अस्पि-मान-युक्त स्थूल शरीर से ही समझा जाता है, जिसे “दि फिजिकल बॉडी” कहा जाता है। पर फिजिकल बॉडी के मियाँ भी कुछ ऐसे शरीर होते हैं, जिनसे हम परिचित नहीं हैं।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार शरीर के पाँच प्रकार हैं—

- (१) औदारिक
- (२) वैश्रिय
- (३) आहारक
- (४) तैजस्
- (५) वामंज

इन पाँचों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है।

स्थूल शरीर—औदारिक शरीर—हाड-मान आदि सप्त धातुओं द्वारा निर्मित शरीर।

सूक्ष्म शरीर—वैश्रिय शरीर—नाना रूप बनाने में समर्थ शरीर।

आहारक शरीर—विचान-सवाहक शरीर।

सूक्ष्मतम शरीर—तैजस्—तापमय शरीर।

वामंज शरीर—वर्ममय शरीर।

इस वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल होता है। वैक्रिय शरीर उससे अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। उससे सूक्ष्म आहारक शरीर होता है। आहारक से भी सूक्ष्म होते हैं तैजस और कार्मण शरीर।

औदारिक शरीर

यह शरीर रसादि धातुमय है। स्थूल पुद्गलो से निष्पन्न है। यह मृत्यु के बाद भी टिका रह सकता है। इसका छेदन-भेदन हो सकता है। यह अस्थि, मज्जा, मांस, रुधिर आदि से निर्मित है इसलिए विशरण धर्मा है। यानी इसका स्वभाव है गलना-मिलना और विनष्ट होना। इस शरीर का चयापचय होता रहता है। इस शरीर की सबसे छोटी इकाई है कोशिका। प्रतिक्षण लाखो करोडो कोशिकाएँ नष्ट होती हैं और नयी कोशिकाएँ उत्पन्न होती रहती हैं।

शरीर भौतिक है। आत्म-स्वरूप की उपलब्धि में या मुक्ति में बाधक है। अवतार वे ही आत्माएँ लेती हैं जो सशरीरी हैं। सिद्धात्माएँ शरीर-मुक्त होती हैं। वे पुनः जन्म नहीं लेती। औदारिक शरीर मुक्ति का साधक भी है। वह इसलिए कि मोक्ष की साधना और प्राप्ति केवल औदारिक शरीर से ही संभव है।

यह औदारिक शरीर एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मनुष्य और तिर्यच-पचेन्द्रिय तक सब जीवों को प्राप्त होता है।

वैक्रिय शरीर

भाति-भाति के रूप बनाने में समर्थ शरीर वैक्रिय कहलाता है। विक्रिया—विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ घटित होना। वैक्रिय शरीर-धारी प्राणी छोटा-बड़ा, सुरूप-कुरूप, एक-अनेक चाहे जैसा, चाहे जितने रूप बना सकता है। मृत्यु के पश्चात् इस शरीर का कोई अवशेष नहीं रह जाता। यह पारे की तरह बिखर जाता है।

देवों और नैरयिक जीवों के वैक्रिय शरीर होता है। मनुष्य और तिर्यच में भी यह सामर्थ्य हो सकती है। उसे वैक्रिय लब्धि कहते हैं।

वायुकाय में सहज ही वैक्रिय शरीर होता है।

आहारक शरीर

यह विचारों का सवाहक शरीर है। इसमें विचार-संप्रेषण की अद्भुत क्षमता होती है। विशिष्ट योग शक्ति-सम्पन्न चतुर्दश पूर्वधर मुनि विशिष्ट प्रयोजनवश एक विशिष्ट प्रकार के शरीर की रचना करते हैं। उसे आहारक शरीर करते हैं। इस शरीर के द्वारा प्रयोक्ता हजारों मीलों की दूरी को क्षण भर में तय कर लक्षित व्यक्ति के पास पहुँच जाता है।

उसमें जिज्ञासा या समाधान या वर या विचार-विमर्श कर पुन यथास्थान आ जाना है। यह शरीर क्रिया इनके कम समय में हो जाती है कि दूसरे व्यक्ति का पना नो नही करना।

जैन-शास्त्रा में उल्लेख जाता है कि किसी चौदहपूर्वी मुनि के पास यदि कोई व्यक्ति जिज्ञासा लेकर आए, किन्तु समय पर ज्ञानी मुनि प्रश्नकर्ता को महा उत्तर देने में समय न हो तो वे आहारक नाम की विशिष्ट तपो-जनित शक्ति द्वारा अपने शरीर में एक हाथ प्रमाण पुतला निकालते हैं, उसे सर्वज्ञ के पास भेजते हैं, वह पुतला सर्वज्ञ भगवान से प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर ज्ञानी मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। मुनि उत्तर प्रदान कर प्रश्नकर्ता को सतुष्ट कर देते हैं। यदाचित् निदिष्ट स्थान पर सर्वज्ञ न मिले तो उस पुतले से वैसा ही दूसरा पुतला निकलता है। सर्वज्ञ से समाधान प्राप्त न पहले पुतले में प्रविष्ट होता है और पहला पुतला मुनि के शरीर में। मुनि प्रश्नकर्ता का समाधान दे सतुष्ट कर देते हैं।

आहारक शरीर औदारिक और वैश्रिय की अपेक्षा सूक्ष्म होता है तथा तेजस और कामण की अपेक्षा स्थूल होता है। फिर भी इसकी गति अव्यवहित होती है। गती रूपाट नही जाती।

आज विज्ञान पामनोविज्ञान के क्षेत्र में टेनीपंधी तथा "प्रोजेक्शन ऑफ पन्ट्रन बॉडी" का प्रयोग-परीक्षण की व्यापक चर्चा है। कोस्मिक-रे-नेसर विरणो की अपार क्षमताओं की खोज प्रयोग और परीक्षण हो रहे हैं—उसका शरीर में वैश्रिय शरीर और आहारक शरीर पर विशेष अध्ययन, अनुशीलन लिए जाए तो आवश्यकारी गृह्य उद्घाटित हो सकने हैं।

तेजस शरीर

तेजाभय पामाणों में निपन्न शरीर तेजस शरीर है। यह तेजो-विद्य शीघ्र और पात्रता से हेतु है। यह तापमय शरीर है। हमारी उष्मा, सक्रियता और शक्ति का संचालन है। हमारे बिना उष्मा उत्पन्न नही हो सकती पापन नही हो सकता, मन-संचार आदि क्रियाएँ नही हो सकती। हमारे स्थल शरीर की शरीर क्रियाओं का संचालन हमी शरीर द्वारा होता है।

तेजस की शक्त अग्नि-मटना का हेतु है। अग्नि की मटना में प्रत्येक प्रकृति एकाही ही शक्ति है। तेजस शरीर का मुख्यतया दो भाग है—

१ शरीर-तन्त्र का संचालन।

२ शरीर-तन्त्र की क्षमता।

हमारी जीवनी-शक्ति का आधार प्राण तन्त्र तेजस शरीर में ही प्रकृतिक होता है।

यह उष्णमय शरीर है। इसे शरीर के अन्तर्गत प्राणमान शीघ्र तथा

वैज्ञानिक "वाइटल बाँडी" बायो इलेक्ट्रीकल प्लाज्मा कहते हैं। सीधी भाषा में कहें तो यह विद्युतीय शरीर है। ऊर्जा का अपार भंडार है।

वैज्ञानिक आकड़े बताते हैं कि मनुष्य-जीवन को संचालित करने के लिए जितनी प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन प्रवृत्तियों में जितनी विद्युत् या ऊर्जा खपती है, उससे एक बड़ी कपड़े की मील चलाई जा सकती है।

एक बच्चे की शारीरिक क्रियाओं में जितनी विद्युत् खपती है उससे रेल का इंजन चलाया जा सकता है।

मनुष्य-शरीर की प्रत्येक कोशिका में अपना स्वतंत्र "पावर-हाऊस" है, जहाँ विद्युत्-ऊर्जा उत्पन्न होती है। उसी से पूरा शरीर-तंत्र सक्रिय रहता है।

सूरज, वायु तथा अनन्त आकाश में व्याप्त सूक्ष्म तरंगों से भी निरन्तर ऊर्जा मिलती रहती है। उससे भी तैजस् शरीर पुष्ट होता रहता है।

प्राण-वायु ऑक्सीजन शरीर के भीतर जाकर कोशिकाओं को ऊर्जा प्रदान करती है। इससे तैजस शरीर भी प्रभावित होता है। प्राणमय कोष को निर्मल और पारदर्शी बनाने के लिए प्राण को साधना आवश्यक है। ऐसा योग के आचार्यों का अभिमत है।

मंत्र-जप प्राणायाम और दीर्घ श्वास के अभ्यास से तैजस शरीर को प्रभावित कर उसमें छिपी अनन्त शक्ति को उजागर किया जा सकता है। विचार-तन्त्र और आभा-मण्डल को भी प्रभावित किया जा सकता है।

कार्मण शरीर

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल-समूह से निर्मित शरीर कार्मण शरीर या कर्म-शरीर है। यह पूर्ववर्ती औदारिक आदि चारों शरीरों का कारण है, इस दृष्टि से इसे "कारण शरीर" भी कहा जाता है। यह सूक्ष्मतम शरीर है। इसके बिना स्थूल शरीर का निर्माण संभव नहीं। कार्मण शरीर के माध्यम से ही आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती है या दूसरे शरीर का निर्माण करती है।

औदारिक शरीर जन्म सबधी है। वैक्रिय शरीर जन्म सबधी भी है (देवों और नारकों के) और लब्धिजन्य भी। आहारक शरीर योग-शक्ति-जनित ही होता है। ये तीनों शरीर स्थूल हैं, अवयवी हैं। तैजस और कार्मण सूक्ष्म शरीर हैं। मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहते हैं।

ससारी आत्माओं के दो या तीन शरीर सदा रहते हैं। कुछ आत्माओं में पाँचों शरीरों के निर्माण की क्षमता रहती है। कम से कम दो शरीर—तैजस और कार्मण तो प्रत्येक ससारी आत्मा के साथ रहते ही हैं। इनका आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है। इन दोनों शरीरों के छूटते

ही आत्मा मुक्त हो जाती है। फिर उसे समार मे परिभ्रमण करना नहीं पडता।

जैसा कि हमने जाना तंजम और कार्मण ये दो सूक्ष्म शरीर प्रत्येक ममारी प्राणी के होते हैं। पर उनके माय भी जानव्य है कि केवल उन दो शरीरों मे आत्मा अधिार समय तक नहीं रह सकती। वह केवल अन्तर्गल गति (एक जन्म मे दूसरे जन्म-स्थान मे जान के मध्य का समय) मे होते हैं। नया जन्म लेने ही उस तीसरा शरीर धारण करना होता है।

सूक्ष्म शरीर और आधुनिक विज्ञान

उन चारों तरफों मे परामनोविज्ञान के क्षेत्र मे सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित काफी प्रयोग परीक्षण हुए हैं। उनमे सूक्ष्म शरीर के अनेक रहस्य अनायास हुए हैं। फिरत्रियान फोटोसाफी आभासण्टन के फोटो लेने मे उफन मित्र हुई है। हमने विज्ञान जगत् की धारणा भी प्रती है कि इन स्थूल शरीर मे परे की प्रकृति कुछ है। इनके भीतर बहुत बड़ा सूक्ष्म जगत् है।

मरते हुए आत्मी का फोटो लिया गया, तब ऐसा लगा कि इस शरीर जैसी आकृति शरीर से बाहर आ रही है। प्रापमिक प्रयोगों ने हो सकता है इसे आत्मा माना हो, पर वास्तव मे यह सूक्ष्म शरीर ही है। आत्मा अमूर्त है, यह दृश्य नहीं बन सकती। जैन-दर्शन के अनुसार सूक्ष्मतरंग शरीर के चतुर्दश परमाणु स्वरूपों से निर्मित है।

परमाणु स्वरूप दो प्रकार के होते हैं—चतुर्दशों और अष्टस्पर्शों। अष्टस्पर्शों परमाणु स्वरूपों मे भार होता है। विद्युत-आवेश होता है। प्रसफुटन होता है और स्पून अवगाहन होता है उनमे टोम अवरोध के बाहर जाने की क्षमता नहीं होती। चतुर्दशों पुद्गल स्वरूपों मे भार नहीं होता। वे न हलके होते हैं, न भारी। उनमे विद्युत् आवेश नहीं होता। उनकी गति अप्रतिहत होती है। अस्पन्दित होती है। वे दीवार के पार जा सकते हैं। सूक्ष्मतरंग शरीर चतुर्दश परमाणुओं से बना हुआ होता है।

परामनोविज्ञान की भाषा मे क्या जाता है कि सूक्ष्म शरीर "सूक्ष्मलोक" वर्णों से निर्मित है। चतुर्दशों पुद्गलों की भांति "सूक्ष्मलोक" वर्णों से भी भार, विद्युत-आवेश और प्रसफुटन नहीं होता। विज्ञान उन वर्णों की अभौतिक मानता है। पर जैन-दर्शन-सम्मत सूक्ष्म शरीर भौतिक है, पौद्गलिक है। हो सकता है विज्ञान के पक्ष इनकी स्पष्ट भाषा नहीं, इसलिए उनके अभौतिक कह देता है। जैन आत्मोक्त काशर पर सूक्ष्म शरीर भौतिक नहीं है। पर भौतिक है। पौद्गलिक है। चतुर्दशों पुद्गलों से निर्मित है।

'सूक्ष्मलोक' के वर्ण भी दोरे वर्ण के रूप मे नहीं देखे जा सकते हैं। जब दूसरे वर्णों के साथ सम्पर्क होता है तब वे वर्ण पकट मे आते हैं। वे

ही सूक्ष्म परमाणु हमारे सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं ।

आध्यात्मिक मूल्य

कर्म शरीर सस्कारों का वाहक है । जन्म-जन्मान्तरो की सस्कार-परम्परा इसके साथ जुड़ी हुई होती है । व्यक्ति का चरित्र, ज्ञान, व्यवहार, व्यक्तित्व, कर्तृत्व—इन सबके बीज कर्म शरीर में ही सन्निहित हैं । जीनेटिक साइंस के अनुसार व्यक्ति के आकार, प्रकार, सस्कार का मूल आधार “जीन” है । मानव-शरीर में लगभग एक लाख तीस हजार किस्म के “जीन्स” हैं । प्रत्येक जीन-शृंखला में ढाई अरब “बेस” अथवा आधार-कण के जोड़े होते हैं । इन्हीं के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है । कर्म शास्त्रीय दृष्टि से व्यक्तित्व की विचित्रता का मूल कर्म शरीर है ।

कर्म शरीर चेतना के सर्वाधिक निकट है । चैतन्य की रश्मियों को रोकने वाली सुदृढ दीवार है । चैतन्य को प्रकट करने के लिए उसका हटना आवश्यक है । भगवान महावीर ने कहा—“घुणेहि कम्म सरीरम”—कर्म शरीर को प्रकम्पित करो । दुर्बल करो । इसके समाप्त होते ही जन्म-परम्परा समाप्त हो जाएगी । इसका प्रारम्भ औदारिक शरीर की सिद्धि और शुद्धि से होता है । इसके लिए शरीर के क्रिया-तत्र, विचार-तत्र और नाडी तत्र का शोधन और सयम कर ग्रन्थि तन्त्र के स्रावों को बदला जा सकता है । उसका फलित है भाव-शुद्धि । भाव-शुद्धि से लेश्या पवित्र होती है । पवित्र लेश्या अध्यवसाय को प्रभावित करती है । पवित्र अध्यवसाय से कामण-शरीर प्रकम्पित होता है । जन्म-जन्मान्तरो के सस्कार क्षीण होते हैं । मूर्च्छा टूटती है और चेतना का सूर्य समग्रता से प्रकाशित हो उठता है ।

आज अपेक्षा है, शरीर का सैद्धांतिक और शरीर-शास्त्रीय अध्ययन भी अध्यात्म के सदर्थ में करें और चेतना के केन्द्र तक पहुँचने का पथ प्रशस्त करें।

सदर्थ.—१ घट-घट दीप जले, पृष्ठ ५९; ६० आचार्यश्री महाप्रज्ञ ।

१ जैन-सिद्धांत दीपिका ७/२४-२८ ।

२. जैन तत्त्व-विद्या पृ० २१, २२ ।

३ प्रेक्षाध्यान, शरीर विज्ञान ।

४ सबोधि—१३/पृष्ठ २८७-२८८ ।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

जन्म और मृत्यु नार्वंभीम नियम है। मरण का कोई भी प्राणी दसवा अपवाद नहीं है। जो जन्मता है वह निश्चित मरता है। हमारे जीवन के दो छोर हैं एक जन्म, दूसरा मृत्यु। इन दोनों के बीच जीवन की धारा अक्षय प्रवाहित है। जीवन, जन्म और मृत्यु ये तीनों हमारे प्रत्यक्ष हैं। प्रश्न होता है—इन तीनों में परे भी कुछ है क्या? जन्म से पहले क्या था? मृत्यु के पश्चात् क्या होगा? ये प्रश्न आदि युग में लेकर आज तक रहस्यमय बने हुए हैं?

भगवान महावीर ने कहा—'अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते—मैं कौन हूँ, कहा से जाया हूँ और कहाँ जाऊंगा? वैज्ञानिक भ्रष्ट और प्रयोगों की परायाणा के इन युग में भी यह प्रश्न उनकी ही तीव्रता में पूछा जा रहा है।

भगवान महावीर ने कहा—“इन प्रश्नों को उत्तरित करने के तीन माध्यम हैं—स्वयं का प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञानियों का अनुभव तथा दूसरों के वचन-श्रवण।”

यद्यपि सभी पूर्वोक्त और पश्चिमी अन्तिमव्यापी दार्शनिकों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म में सिद्धांतों को स्वीकार किया है। फिर भी भारतीय दर्शनों का मूल आधार प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञानियों का अनुभव रहा है तथा पश्चिमी दार्शनिकों का मूल आधार तर्क रहा है।

जैन-दर्शन और जन्मान्तर का सिद्धान्त

भगवान् महावीर ने कहा —

“जावंतऽचिञ्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खं सभवा ।

तुप्पति वहुसो मूढा, मसारमि अणतए ।” (उत्तरज्झयणाणि ६।१)

जितने भी अविद्यावान् अज्ञानी प्राणी हैं, वे सब दुःखों को उत्पन्न करने वाले हैं। वे अनन्त ससार में बार-बार नष्ट-विनाश होते रहते हैं। मृत्यु को प्राप्त करते रहते हैं। आत्मा की कैकालिकता ने बिना अनन्त बार मृत्यु संभव नहीं।

“न तस्स दुक्खं विभयति नाइप्रो,

न मित्तवग्गा न सुया न वधवा ।

एक्को सय पच्चण्होई दुक्खं,

कत्तारमेव अणुजाई कम्म ॥ उत्तरज्झयणाणि १३/२३

सुख-दुःख सबके अपने अपने होते हैं। इसीलिए उम अविद्या-जनित दुःख को न ज्ञातिजन बाट सकते हैं, न मित्र बाट सकते हैं, न बन्धु-बाजव। अपने कृत कर्म स्वयं को ही भोगने पड़ते हैं। क्योंकि कर्म सदा कर्ता का अनुगमन करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि निरन्तर क्रियाशील जीवात्मा अपनी सत-असत् प्रवृत्ति से कर्म-मलो का संचय करती रहती है। पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना तथा नए सस्कारों को संचय करना उमका स्वभाव है। उन्हीं संचित सस्कारों की प्रेरणा से वह बार-बार जन्म और मृत्यु की अतहीन परम्परा में परावर्तन करता रहता है। चार गतियों और चौरासी लाख जीव-योनियों में सुख-दुःख का सवेदन करता रहता है। यही है पुनर्जन्मवाद।

पुनर्जन्म की प्रतीति करने वाले या उसे प्रतिष्ठित करने वाले मुख्यतः तीन स्रोत हैं—

१ प्रत्यक्ष-ज्ञानी और दार्शनिक।

२ तार्किक।

३ वैज्ञानिक।

प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने अनुभव के आधार पर प्रतिपादित किया— जन्म के पहले भी जीवन होता है और मृत्यु के बाद भी जीवन की धारा पुनः चालू हो जाती है। वर्तमान तो मध्यवर्ती विराम है जिसका पूर्व और पश्चात् नहीं होता उसका मध्य भी नहीं होता। जिसका मध्य है उसका पूर्वापर भाव भी निश्चित होता है। वर्तमान जीवन जन्म-परम्परा की मध्यवर्ती कड़ी है। वह पूर्व कड़ी और अपर कड़ी से जुड़ी है। वे कड़ियाँ ही पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म हैं।

पुनर्जन्म के साधक हेतु

अग्निहोत्रवादी साधनिकों ने भी नाना हेतुओं में जन्मान्तरवाद को सिद्ध किया। उनमें से सतिष्य हेतु यह है —

- १ नरनाश मिश्रु म भी हृष, शोक, भय आदि की वृत्तिया होती हैं।
- २ मिश्रु जन्मने ही मां का स्तनपान बरन लगना है।
- ३ उममें हयने-गेन आदि की प्रवृत्तिया होती हैं।
- ४ उमें गुण-दुःख आदि की अनुभूति होती है।
- ५ उम जीवन का मोह और म-यु या भय होत है।

यह सब पूव मस्त्रारो का ही परिणाम है। उसकी उक्त वृत्तिया और प्रवृत्तियां पूर्वाभ्याम की परिचायक हैं। पूर्वाभ्याम पुनर्जन्म के बिना संभव नहीं। याद पूव जीवन में ये वृत्तिया परिचित नहीं होती तो नरनाश मिश्रु में ये भीम सिद्धी है ? (श्री भिक्षु न्यायवर्णिवा ७/९-१०)। बच्चे की कुछ प्रवृत्तिया में ऐसा लगता है कि उम पूवजन्म का ज्ञान है स्मृति है। प्राणी-रिा विकास की अपूर्णता व कारण वह उमें व्यक्त नहीं कर सकता। इससे यह ता स्पष्ट ही जाता है कि उम जीवन में भय की उत्तरवर्ती अवस्था है, संम ही भय भी पूवज म की उत्तर अवस्था है।

पुनर्जन्म और पुनर्जन्म की सिद्ध करने वाला सशक्त प्रमाण है—
जाति-स्मृति पुनर्जन्म का स्मरण।

पनपी और फनी-फूली है, वैसे इसकी समरेखा में एक ऐसी धारा भी मदा बहती रहती है जो पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करती तथा पूर्वपक्ष का भ्रूपूर विरोध भी करती है। उसके अनुसार न पूर्व जन्म होता है और न पुनर्जन्म। वर्तमान जीवन ही सत्य है यथार्थ है।

ये दो धाराएँ दार्शनिक क्षेत्र में बराबर चलती रही हैं। एक को आस्तिक कहा जाता है और दूसरे को नास्तिक। एक है आत्मा को मानने वाली धारा और दूसरी है आत्मा को न मानने वाली धारा। यद्यपि नास्तिक भी आत्मा को—चेतना को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते। फिर भी वे उसको मात्र वार्तमानिक मानते हैं, त्रैकालिक नहीं। उनके अभिमत से चेतना स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। कुछ ऐसे तत्त्वों या परमाणुओं का संयोग होता है, जिससे एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। वही चेतना है, जो शरीर के साथ उत्पन्न होती है और शरीर के विनाश के साथ विनष्ट हो जाती है। मृत्यु के समय वे विशेष प्रकार के परमाणु विखर जाते हैं, उनके साथ चेतना भी विखर जाती है। जब तक जीवन, तब तक चेतना। जीवन समाप्त, तो चेतना भी समाप्त। उसके बाद कुछ नहीं बचता। न पहले चेतना, न बाद में चेतना। न पहले जीवन, न बाद में जीवन। न पूर्वजन्म, न पुनर्जन्म। जो कुछ है, वह वर्तमान ही है। न अतीत, न भविष्य। इस प्रकार तार्किकों ने पुनर्जन्म के सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार अस्वीकृति के पीछे उनका ठोस तर्क यह है कि शरीर हमारे प्रत्यक्ष है, पर चेतना प्रत्यक्ष नहीं। यदि चेतना जैसी कोई त्रैकालिक सत्ता होती तो जरूर दृष्टि का विषय बनती। शरीर में प्रवेश करते और निकलते समय वह अवश्य दिखाई देती। दूसरा तर्क उनका यह है कि यदि पूर्वजन्म का अस्तित्व है तो उसकी स्मृति सबको होनी चाहिए। मृतात्माओं से संपर्क बना रहना चाहिए। किंतु ऐसा होता नहीं है। यदि कहीं कुछ घटित होता भी है तो विरल। घटित घटनाओं की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं, इसलिए जीवन का अतीत और भविष्य तर्क से सिद्ध नहीं होता।

तार्किकों की भांति वैज्ञानिकों ने भी लम्बे समय तक जन्मान्तर के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया था। इसका कारण यही है कि विज्ञान की पहुँच भी भौतिक जगत् तक ही थी। उसके प्रयोग और परीक्षण का केन्द्र-बिंदु पदार्थ या पुद्गल ही रहा। जब से विज्ञान ने सूक्ष्म जगत् के रहस्यों को पकड़ना प्रारम्भ किया, एक नई क्रांति घटित हुई। आत्मा को उसने स्वीकार किया या नहीं, पर भौतिक जगत् में कुछ अभौतिक तत्त्व भी हैं—यह विश्वास निश्चित वैज्ञानिक क्षेत्र में पनपा है।

पुनर्जन्म को स्वीकारने या न स्वीकारने के पीछे मुख्यतः दो अवधारणाएँ काम कर रही हैं—आत्मवादी धारणा और अनात्मवादी अथवा भौतिक-

राजी धारणा ।

अनात्मवादी सामानिकों ने तथा विज्ञान ने यही माना कि यह जगत् मात्र भौतिक है । पौर्वाधिक है । उनही यह मान्यता अवधारण भी नहीं थी । यशस्वि पुरुषगत वा नीमा से परे भी गृह्य है, यह जानने का साधन भी उन्हें उपलब्ध नहीं था । पुरुषगत थी नीमा से रहने वाला व्यक्ति आत्मा तक कैसे पहुँच सकता है ? आत्मा तक पहुँचे बिना जीवन की लम्बी-परम्परा ज्ञान का नीमा से नहीं आ सकती । प्रश्न है आत्मा का, अभीतिक तत्त्व का ।

आत्मा सूक्ष्म है, अभीतिक है, अदृश्य है । हमारे ज्ञान के साधन मरुत हैं । उनकी शक्ति सीमित है । हमारे ज्ञान के माध्यम हैं - इन्द्रियाँ मन और बुद्धि । आत्मा इन तीनों से परे है । इनके द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त होना नहीं हो सकती । ये मृत हैं । आत्मा अमृत है । मूर्त में अमृत का नहीं जाता जा सकता । अतीन्द्रिय चेतना के जागरण से ही आत्मा का ज्ञान हो जाता है । आत्मा प्रतीतिक सत्ता है ।

इतिहास यह जन्म-जन्मान्तरो की यात्रा करती हुई, अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण करती है । शरीर कुछ कुछ त संप्रदानों का माध्यम बनता है । इस का विनाश ही ज्ञान में यह प्रभावित भी होता है ।

जैसे व्यक्ति एक जीव मन्त्र को त्याग कर नया मन्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा मृत्यु से नया शरीर को छोड़ दूसरे शरीर का निर्माण करता है । यह जन्म मरण चक्र चलता रहता है, जब तक आत्मा बन्ध-मुक्त नहीं जाता ।

पनपी और फली-फूली है, वैसे इसकी समरेखा में एक ऐसी धारा भी सदा बहती रहती है जो पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करती तथा पूर्वपक्ष का भरपूर विरोध भी करती है। उसके अनुसार न पूर्व जन्म होता है और न पुनर्जन्म। वर्तमान जीवन ही सत्य है यथार्थ है।

ये दो धाराएँ दार्शनिक क्षेत्र में बराबर चलती रही हैं। एक को आस्तिक कहा जाता है और दूसरे को नास्तिक। एक है आत्मा को मानने वाली धारा और दूसरी है आत्मा को न मानने वाली धारा। यद्यपि नास्तिक भी आत्मा को—चेतना को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते। फिर भी वे उसको मात्र वार्तमानिक मानते हैं, त्रैकालिक नहीं। उनके अभिमत से चेतना स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। कुछ ऐसे तत्त्वो या परमाणुओ का सयोग होता है, जिससे एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। वही चेतना है, जो शरीर के साथ उत्पन्न होती है और शरीर के विनाश के साथ विनष्ट हो जाती है। मृत्यु के समय वे विशेष प्रकार के परमाणु बिखर जाते हैं, उनके साथ चेतना भी बिखर जाती है। जब तक जीवन, तब तक चेतना। जीवन समाप्त, तो चेतना भी समाप्त। उसके बाद कुछ नहीं बचता। न पहले चेतना, न बाद में चेतना। न पहले जीवन, न बाद में जीवन। न पूर्वजन्म, न पुनर्जन्म। जो कुछ है, वह वर्तमान ही है। न अतीत, न भविष्य। इस प्रकार तार्किकों ने पुनर्जन्म के सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार अस्वीकृति के पीछे उनका ठोस तर्क यह है कि शरीर हमारे प्रत्यक्ष है, पर चेतना प्रत्यक्ष नहीं। यदि चेतना जैसी कोई त्रैकालिक सत्ता होती तो जरूर दृष्टि का विषय बनती। शरीर में प्रवेश करते और निकलते समय वह अवश्य दिखाई देती। दूसरा तर्क उनका यह है कि यदि पूर्वजन्म का अस्तित्व है तो उसकी स्मृति सबको होनी चाहिए। मृतात्माओ से संपर्क बना रहना चाहिए। किंतु ऐसा होता नहीं है। यदि कही कुछ घटित होता भी है तो विरल। घटित घटनाओ की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं, इसलिए जीवन का अतीत और भविष्य तर्क से सिद्ध नहीं होता।

तार्किकों की भांति वैज्ञानिकों ने भी लम्बे समय तक जन्मान्तर के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया था। इसका कारण यही है कि विज्ञान की पहुंच भी भौतिक जगत् तक ही थी। उसके प्रयोग और परीक्षण का केन्द्र-विन्दु पदार्थ या पुद्गल ही रहा। जब से विज्ञान ने सूक्ष्म जगत् के रहस्यों को पकड़ना प्रारम्भ किया, एक नई क्रांति घटित हुई। आत्मा को उसने स्वीकार किया या नहीं, पर भौतिक जगत् में कुछ अभौतिक तत्त्व भी हैं—यह विश्वास निश्चित वैज्ञानिक क्षेत्र में पनपा है।

पुनर्जन्म को स्वीकारने या न स्वीकारने के पीछे मुख्यतः दो अवधारणाएँ काम कर रही हैं—आत्मवादी धारणा और अनात्मवादी अथवा भौतिक-

वादी धारणा ।

अनात्मवादी दार्शनिकों ने तथा विज्ञान ने यही माना कि यह जगत् मात्र भौतिक है । पौद्गलिक है । उनकी यह मान्यता अकारण भी नहीं थी । क्योंकि पुद्गल की सीमा से परे भी कुछ है, यह जानने का साधन भी उन्हें उपलब्ध नहीं था । पुद्गल की सीमा में रहने वाला व्यक्ति आत्मा तक कैसे पहुँच सकता है ? आत्मा तक पहुँचे बिना जीवन की लम्बी-परम्परा ज्ञान की सीमा में नहीं आ सकती । प्रश्न है आत्मा का, अभौतिक तत्त्व का ।

आत्मा सूक्ष्म है, अभौतिक है, अदृश्य है । हमारे ज्ञान के साधन स्थूल हैं । उनकी शक्ति सीमित है । हमारे ज्ञान के माध्यम हैं—इन्द्रिया मन और बुद्धि । आत्मा इन तीनों से परे है । इनके द्वारा आत्मा का ज्ञान—आत्मानुभूति नहीं हो सकती । ये मूर्त्त हैं । आत्मा अमूर्त्त है । मूर्त्त से अमूर्त्त को नहीं जाना जा सकता । अतीन्द्रिय चेतना के जागरण से ही आत्मा का अनुभव होता है । आत्मा त्रैकालिक सत्ता है ।

इसीलिए वह जन्म-जन्मान्तरो की यात्रा करती हुई, अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण करती है । शरीर सुख-दुःख के सवेदनो का माध्यम बनता है । चेतना के विकास और ह्रास से वह प्रभावित भी होता है ।

जैसे व्यक्ति एक जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा मृत्यु के वहाने एक शरीर को छोड़ दूसरे शरीर का निर्माण करती है । यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा कर्म-मुक्त न हो जाए ।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को तार्किक आधार पर सिद्ध और असिद्ध करने के प्रयत्न हुए, पर तर्क कभी सतोपप्रद समाधान नहीं दे सकता । तर्क से कभी अन्तिम प्रमाण सिद्ध नहीं होता । प्रमाण होता है, अतीन्द्रियज्ञान या प्रयोग-परीक्षण । वर्तमान में अतीन्द्रिय ज्ञानी या प्रत्यक्ष ज्ञानी हमें उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी वैज्ञानिक खोजों ने इस दिशा में नए आयाम खोले हैं ।

अब यह विषय सदिग्ध नहीं रहा है कि पूर्वजन्म होता है या नहीं परामनोवैज्ञानिकों ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है उससे धर्म का क्षेत्र भी उपकृत हुआ है । उन्होंने पुनर्जन्म सम्बन्धी घटनाओं का सकलन कर उन पर जो वैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण किया है, उससे पुनर्जन्मवाद सिद्ध होता है ।

उन्होंने ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है । अनेक बच्चों ने अपने पूर्वजन्म का वर्णन कर नवको चौंका दिया । परीक्षा की कमीटी पर वे घटनाएँ प्रायः सत्य साबित हुईं । उन्हें देख-सुनकर वे लोग भी विस्मित हो रहे हैं, जिनका विश्वास आत्मा और पुनर्जन्म में

नहीं था। अपेक्षा है विज्ञान और परामनोविज्ञान के साथ भारतीय अध्यात्म-विज्ञान वह प्रक्रिया प्रस्तुत करे, जिससे विकसित चेतना का स्वामी मनुष्य स्वयं अपने अतीत और अनागत की अवस्थाओं या जन्मों का अनुभव कर चेतना को अध्यात्म के नए आयाम में प्रविष्टि दे सके।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक ससार के अनेक देशों की विभिन्न जातियों में पुनर्जन्म का व्यापक विश्वास जमा हुआ है। बर्मा, चीन, जापान, तिब्बत, पूर्वी द्वीप समूह, लका, भारत आदि देशों में तो पुनर्जन्म की मान्यता के बिना धर्म की भी सिद्धि नहीं होती। हिन्दू, जैन और बौद्ध जगत् का प्रायः शत-प्रतिशत और ईसाई जगत् का बहुमत इस सिद्धांत का अनुगामी है। वास्तव में विश्व की एक तिहाई से अधिक जनसंख्या पुनर्जन्मवाद को स्वीकार करती है।

उन-उन देशों के तत्त्व-चिंतकों और धर्माचार्यों ने अनेक युक्तियों से, तर्कों से तथा अपने निजी अनुभवों से पुनर्जन्म को सिद्ध किया है। अपने विश्वास को पुष्ट किया है।

भारतीय परम्पराएं

जैन-दशन ५ अनुसार प्राणी यदि सत्कर्म करता है तो उसका अच्छा फल भोगता है। यदि वह असत्कर्म करता है तो उसका बुरा फल भोगता है।

कुछ कर्मों का फल उसी जीवन में भोग लिया जाता है और कुछ कर्मों का फल वह अगले जन्म में भोगता है। कुछ ऐसे भी निर्बिड कर्म होते हैं जो प्राणी को जन्म-जन्मान्तरो तक प्रभावित करते रहते हैं। उन्हें भोगने के लिए वह अनेक बार सद्गति और दुर्गति को प्राप्त करता है। सत्कर्मों के फल-भोग के उपयुक्त स्थान और वातावरण का मिलना सद्गति है और असत्कर्मों के फल-भोग के उपयुक्त स्थान, वातावरण आदि का मिलना ही दुर्गति है।

भगवान् महावीर आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने कहा—“परलोक नहीं है”—ऐसा मानना और चिंतन करना मूढता है।

भगवान् ने कहा—“ससारी प्राणी अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—इस चतुर्गतिमय ससार में परिभ्रमण करता रहता है। उन्होंने यह भी बताया कि प्राणी की कौन-सी वृत्ति और प्रवृत्ति कौन-सी गति का निमित्त बनती है। महाहिंसा, महापरिग्रह, पचेन्द्रियवध और मासाहार ये दुर्गति नरक गति के हेतु हैं।

विविध प्रकार के शील-मदाचार का पालन करने वाले व्यक्ति देव-कल्पों व उनके ऊपर के देवलोको की आयु का भोग करते हैं।

(उत्तराध्ययन ३/१३-१५)

देवताओं के आवास उत्तरोत्तर उत्तम, मोह-रहित और द्युतिमान होते हैं। वे देवों में आशीर्ण होते हैं। वहाँ रहने वाले देव यशस्वी, दीर्घायु, ऋद्धिमान, दीप्तिमान, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हो—एसी काति वाले और सूर्य के समान महातेजस्वी होते हैं।

(उत्तराध्ययन ५/२६-२७)

इसी प्रकार जैन-आगमों में सभी प्रकार की जीव-जातियों का विस्तृत विवेचन मिलता है। उसके आधार पर पुनर्जन्म का सिद्धांत सुस्पष्ट हो जाता है।

हिन्दु-धर्म में सर्वप्रथम ऋग्वेद में परलोक सबधी मान्यता की सूचना मिलती है। इसके बाद उत्तरवर्ती साहित्य में प्रचुर सामग्री मिलती है। ऋग्वेद के अनुसार पुण्यात्मा परलोक में अपना पुरस्कार प्राप्त करते हैं और हत्यारे अघागृह (पाताललोक) में भेजे जाते हैं।

उपनिषद्, ब्राह्मण साहित्य तथा संहिता-साहित्य के अध्ययन से सिद्ध होता है कि हिन्दू-परम्परा में भी पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि की स्पष्ट अवधारणा है। जैनो की तरह वैदिक धर्म में भी आत्मा को अनश्वर माना गया है।

बौद्ध धर्म यद्यपि अनात्मवादी है, क्षणिकवादी है फिर भी पुनर्जन्म की मान्यता उसमें भी रही है। तथागत बुद्ध के पैर में काटा लग गया। इसका रहस्य उद्घाटित करते हुए उन्होंने कहा—“भिक्षुओं! इस जन्म से इकाणवे कल्प पूर्व मैंने किसी शस्त्र द्वारा एक पुरुष की हत्या कर दी थी। उसी कर्म के विपाक स्वरूप मेरा पाव वाटे से विघ्न गया है।” जातक कथाओं में भी बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ सकलित हैं। सयुक्त निकाय में बुद्ध कहते हैं—“सभी जीव मरेंगे। मृत्यु में ही जीवन का अन्त होता है। उनकी गति अपने कर्मानुसार होगी, पाप करने से नरक और पुण्य करने से स्वर्ग प्राप्त होता है, इसलिए सदा पुण्य कर्म करें, जिससे परलोक वनता है। अपना कमाया पुण्य ही परलोक में काम आता है।”

बौद्ध-दर्शन की यह निश्चित मान्यता है कि सत्त्व (प्राणी) अनेक जन्मों में संसरण कर अपने कर्मों का भोग करता है। उसमें भी वर्तमान जीवन के कर्मफल का सबध भावी जन्मों से माना गया है।

जैन-दर्शन की भाँति बौद्ध-दर्शन में भी योनियाँ मानी गई हैं, जिन्हें बुद्ध प्रवचन में भूमियाँ कहा गया है। वे भूमियाँ चार हैं—(१) अपाय भूमि (दुःगतियाँ - नरक, तिर्यंच, प्रेत और असुर) (२) कामसुगत भूमि (सुगतियाँ—मनुष्य और कुछ देव जानियाँ), (३) रूपावचर भूमि (विशिष्ट देव जातियाँ) और (४) अरूपावचर भूमि। इससे यह भी ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन में जैन-दर्शन की भाँति चार गतियों का सिद्धांत भी मान्य है।

मिश्र और यूनानी परंपराएं

भारत की तरह मिश्र और यूनान की प्राचीन परम्पराओं में भी आत्मा के आवागमन का सिद्धांत मान्य रहा है। विश्व में इतिहास जनक माने जाने वाले यूनानी इतिहासवेत्ता हेरोडोटस का मत है कि आत्मा के आवागमन के सिद्धांत का प्रस्तोता होने के कारण पुनर्जन्मवाद की मान्यता का चाहे वह अविकसित रूप में ही क्यों न हो मिश्र ही आदि स्रोत रहा है। मिश्र के विचारको ने ही सर्वप्रथम जीवात्मा की अविनश्वरता की कल्पना की है।

यहां तक कि यूनान के दार्शनिकों ने आत्मा के आवागमन के सिद्धांत को मिश्र से ही सीखा और कालांतर में आत्मसात् कर लिया।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो की भाषा इस तथ्य को प्रतिब्वनित कर रही है। उन्होंने कहा—“आत्मा सदा नये-नये वस्त्र बुनती है। तथा उसमें एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है जो ध्रुव रहती है और अनेक बार जन्म लेती है।”

यह दूसरी बात है कि मिश्र वाले आत्मा को शरीर की छाया मात्र मानते थे। उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते थे। इसलिए आत्मा के अमरत्व को स्थायी रखने के लिए ही मिश्र में शव-परिरक्षण की प्रथा रही है। उनका विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा अबाध रूप से कहीं भी आ जा सकती है, लेकिन उसे वही लौट आना पड़ता है, जहां उसका शव रखा हुआ होता है।

ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व बेबीलोन के दक्षिण हिस्से पर शासन करने वाली चाल्डर्स जाति के लोगों का भी यही विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि मृत शरीर के नष्ट कर दिए जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जाती है। आदमी के मर जाने पर भी यदि शरीर सुरक्षित है तो आत्मा भी सुरक्षित रहती है। इसलिए उनमें भी शव-परिरक्षण की प्रथा थी। वे मृत शरीर के पुनरुत्थान और उनमें नव-जीवन के संचार में विश्वास रखते थे।

मुर्दे को फूलों से ढक कर गाड़ने की प्रथा के पीछे परलोक का विश्वास काम करता था। मरणोपरांत जीवन के अस्तित्व की मान्यता ही इसका कारण हो सकती है।

ईसाई और इस्लाम परम्पराएं

ईसाई-धर्म पुनर्जन्म को नहीं मानता। किन्तु अनेक अग्रेज विद्वानों एवं वैज्ञानिकों ने सैद्धांतिक रूप से पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। सुप्रसिद्ध अग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी कविता “अमरत्व की कृति” में लिखा है—“जो आत्मा जीवन-नक्षत्र की भांति हमारे साथ उत्पन्न होती है, उसका कहीं अन्यत्र भी उद्भव है।” ईसाई मत में पुनर्जन्म की मान्यता है ही नहीं ऐसा

तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी पुनर्जन्म की मान्यता वहा सर्व-सम्मत भी नहीं है।

ईसा के जन्म से दो सौ वर्ष पुराने और उस समय के शक्तिशाली धर्म-सम्प्रदाय — “एमेनेसेस” धर्मावलवियों में जीव के शुभ-अशुभ कृत्यों के फल भोगने की मान्यता रही है। ईसाई मत पर इस मान्यता का प्रभाव भी पडा है।

एक जन्माद्य व्यक्ति को ईसा के सामने प्रस्तुत किया गया। ईसा ने इसे पूर्वजन्म के अपराधों का फल बताया।

पुनर्जन्म को न मानने वाले इस्लाम आदि धर्मानुयायी देशों की ऐसी अनेक घटनाएँ सामने आई हैं जो आधुनिक अन्वेषकों को पुनर्जन्म के सवध में पुनर्चितन करने के लिए पेरित करती हैं। उन देशों में ऐसे अनेक व्यक्ति पाए गए हैं जो अपने पूर्वजन्म की घटनाओं का सही-सही वर्णन करते हैं। डॉ. स्टीवन्सन ने पूर्वजन्म से सवधित जिन सात सौ घटनाओं का आकलन और वैज्ञानिक अध्ययन किया है उनमें अनेक ईसाई और इस्लाम धर्मानुयायी भी हैं।

दूसरी बात यह है कि ईसाई और इस्लाम आचार-दर्शन यह तो मानता ही है कि व्यक्ति अपने नैतिक शुभाशुभ कृत्यों का फल अनिवार्यतया प्राप्त करता है। यदि वह इस जीवन में पूरा फल न भोग सके तो वह मरण के बाद भोगता है। इस प्रकार के सिद्धांतों के आधार पर चाहे अनचाहे वे मरणोत्तर जीवन को स्वीकार कर ही लेते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक और वैज्ञानिक

नवीन पाश्चात्य दार्शनिक शापनहावर की दृष्टि में पुनर्जन्म निःसदिग्ध तत्त्व है। उन्होंने इतनी सहजता से स्वीकार किया है कि मेरा अनुभव ऐसा है कि पुनर्जन्म के बारे में जो भी पहले-पहल सुनता है उसे भी उसका अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है।

आधुनिक युग के अनेक परामनोवैज्ञानिकों तथा भूतविद्या के शीर्षस्थ जानकारों ने ऐसे प्रमाण एकत्रित किये हैं जो मृत्यु के बाद भी जीवन के अस्तित्व को वास्तविक बताते हैं।

पामस ह्यमले, रायट मयस और डॉ० जे० वी० राइन जैसे विद्वानों परिचामी चित्तों ने आत्मा के अनश्वर रूप और मरणोपरांत जीवन की स्थिति में अपना विश्वास प्रकट किया है।

वर्तमान युग केवल मान्यता या या दार्शनिक स्थापनाओं का युग नहीं है। यह वैज्ञानिक युग है। प्रयोग और परीक्षण का युग है। उसी सिद्धांत को युग की स्वीकृति प्राप्त होनी है जो प्रायोगिक है। हजारों गतान्दियों

तक पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का जो सिद्धांत मात्र मान्यता या दार्शनिक चर्चा का विषय रहा था, बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से वह भी प्रयोग और परीक्षण की अणु-भट्टी में तपाया जा रहा है। आधुनिक विज्ञान की एक शाखा है—परामनोविज्ञान। इस पर रिसर्च करने वाले इस तथ्य तक पहुंचे हैं कि जीवन की एक लम्बी परम्परा है। उसका अतीत भी है और भविष्य भी है। उसके कुछ बुनियादी हेतु हैं, जैसे—

शिशुकालीन अवस्था में विलक्षण प्रतिभा का होना।

शिशु-अवस्था से ही विभिन्न रुचियों अथवा भय आदि के भावों का होना।

देह-मुक्त आत्माओं से सम्पर्क स्थापित करना और उसके संदेशों को प्राप्त करना।

माध्यमों अथवा सिद्ध पुरुषों द्वारा व्यक्ति विशेष को देखकर उसके पूर्वजन्मों का कथन करना।

इस क्षेत्र में भारत तथा विदेशों में बहुत बड़ा काम हो रहा है। इस विषय का साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हुआ है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सभी दर्शनों की धार्मिक परंपराएँ जो आत्मा के आवागमन को स्वीकार करती हैं, वे सब मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान की ऋणी हैं, जिसके अनुसंधानात्मक आलोक में प्राचीन धार्मिक मान्यताएँ सही सिद्ध हो रही हैं।

पुनर्जन्मवाद की स्वीकृति में ही आत्मवाद, कर्मवाद और निर्वाणवाद की सार्थकता है। यही आचार-शास्त्र का आधार है। पवित्र जीवन की प्रेरणा है। पवित्र आचार-व्यवहार जहाँ व्यक्तिगत सुख-शांति का हेतु है। वहाँ वह सामाजिक और राष्ट्रीय चरित्र को प्रभावित कर उसे स्वस्थता प्रदान करता है।

संदर्भ १ जैन-दर्शन मनन और मीमांसा, पृष्ठ २९५

२. श्री भिक्षु न्यायकर्णिका ७/९-१०

३ घट-घट दीप जले, पृष्ठ ५३-६१

४ श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खंड ४, पृष्ठ ३७८

पुण्य और पाप

शुभ कर्म पुण्यम् ।

अशुभ कर्म पापम् ॥

—(जैन सिद्धांत दीपिका, ४/१२, १४)

सामान्य भाषा में सत्कर्म को पुण्य और असत्कर्म को पाप कहने हैं, किन्तु जैन तत्त्व-दर्शन की भाषा में शुभ कर्मों की उदयावस्था को पुण्य और अशुभ कर्मों की उदयावस्था को पाप कहा जाता है। सत्कर्म और असत्कर्म क्रमशः पुण्य और पाप-वधन के निमित्त हैं। कारण में कार्य का उपचार होने से लोक-व्यवहार में पुण्य और पाप शब्द सत्क्रिया तथा असत्क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त हो जाते हैं।

आत्म-प्रदेशों के साथ वधे हुए कर्म-पुद्गल जब तक उदय में नहीं आते, तब तक जीव को सुख-दुःख आदि की अनुभूति नहीं होती। जब बद्ध कर्म उदय में आते हैं और सुखद-दुःखद सवेदन के निमित्त बनते हैं, तब वे पुण्य-पाप कहलाते हैं।

सात वेदनीय, शुभनाम, उच्चगोत्र और शुभ आयुष्य कर्म पुण्य हैं। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि शुभ-कर्मों के उदय से जीव को सुख सवेदन, शुभ नाम, उच्च-गोत्र और शुभ आयुष्य की स्थिति प्राप्त होती है।

वेदिवा दाणदिवा य, णरिदा जे य विस्सुता ।

पुण्ण-कम्मोदयव्वभूत पीति पावति पीवर ॥

इस धरती पर जितने भी विश्व-विश्रुत देवेन्द्र, दानवेन्द्र अथवा नरेन्द्र हुए हैं, वे सब पुण्य कर्मों के उदय से ही जन-जन के प्रीति-पात्र बने हैं। उन्हें पर्याप्त जन प्रियता प्राप्त हुई है। कर्म-शास्त्रीय व्याख्या भी यही है, जैसे शुभनाम कर्म के उदय में शरीर का सौन्दर्य, दृढ़ता, जन प्रियता आदि उपलब्ध होते हैं। शुभगोत्र कर्म के उदय में उच्चता, लोकपूज्यता आदि प्राप्त होते हैं। शुभ आयुष्य कर्म के उदय से सुखद दीर्घायु प्राप्त होती है। सात वेदनीय कर्म के उदय से शारीरिक और मानसिक सुख की अनुभूति होती है।

पुण्य-वधन का हेतु—जितने भी प्रकार की सत्प्रवृत्ति है, वह पुण्य-वधन का हेतु है।

अहिंसक, अपरिग्रही, त्यागी साधु-सती की साधना में सहयोग

करना—यह भी एक सत्प्रवृत्ति है, पुण्य-बन्धन का हेतु है। इस सहयोग-भावना से सद्गृहस्थ सतो की अध्यात्म-साधना में आलम्बन बनते हैं। तत्त्वों के विवेचन में पुण्य-तत्त्व के नौ भेद बताए गए हैं, यह उक्त दृष्टिकोण का फलित है। जिस निमित्त से पुण्य का बन्धन होता है, वह पुण्य उस-उस नाम से अभिहित हो गया। जैसे समयी को शुद्ध अन्न-दान से होने वाला शुभ, कर्म-बन्ध अन्न-पुण्य कहलाता है, वैसे ही पान-पुण्य लयन-पुण्य, शयन-पुण्य, वस्त्र-पुण्य, मन-पुण्य, वचन-पुण्य, काय-पुण्य और नमस्कार पुण्य ज्ञातव्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पुण्य-बन्धन के हेतु इतने ही हैं। वास्तव में पुण्य-बन्धन के हेतु अनेक हैं। यह विवेचन विशेष तो विवक्षा के सदर्थ में किया है।

पुण्य का हेतु सत्प्रवृत्ति-एकत्व की विवक्षा से प्रतिपादन करें तो कह सकते हैं, पुण्य-बन्धन का एक मात्र निमित्त है—सत्प्रवृत्ति। उसके बिना पुण्य का बन्धन नहीं होता। सत्यप्रवृत्ति मोक्ष का उपाय है इसलिए वह धर्म है। धर्म के बिना पुण्य नहीं होता। जैसे अनाज के साथ “खाखला”—तुष पैदा होता है, पर तुष के लिए खेती नहीं की जाती, वह प्रासंगिक फल है। वैसे ही धर्म के साथ पुण्य का बन्धन होता है पर पुण्य के लिए धर्मासाधना विहित नहीं है। धर्म-साधना आत्म-शुद्धि के लिए की जाती है, पुण्य उसके साथ सहज होता है। वह धर्माचरण का प्रासंगिक फल है।

कुछ परम्पराएँ पुण्य का बन्धन स्वतन्त्र मानती हैं, उनके अभिमत से मिथ्यात्वी के धर्म नहीं होता, पर पुण्य का बन्धन होता है। तत्त्व-चिंतन की कसौटी पर यह मान्यता खरी नहीं उतरती। यद्यपि मिथ्यात्वी के सवर धर्म नहीं होता, पर निर्जरा धर्म तो होता ही है, वही उसकी आंतरिक शुद्धि का निमित्त है। अन्यथा मिथ्यात्वी प्राणी सम्यक्त्व को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

धर्म और पुण्य

धर्म के बिना पुण्य नहीं होता। पुण्य का धर्म के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है, फिर भी धर्म पुण्य एक नहीं हैं। दोनों सर्वथा भिन्न हैं।

धर्म जीव है, क्योंकि वह जीव की प्रवृत्ति है। पुण्य अजीव है, क्योंकि वह शुभ कर्म है। कर्म पौद्गलिक है, इसलिए अजीव है।

धर्म मुक्ति का हेतु है, पुण्य बन्धन है अतः ससार का हेतु है। धर्म, आत्मा की पर्याय है, पुण्य पुद्गल की पर्याय है। निर्जरा-धर्म सत्क्रिया है, पुण्य उसका प्रासंगिक फल है।

पाप-अशुभ कर्मोदय

अशुभ कर्मों के उदय को पाप कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,

पुण्य और पाप

मोहनीय और अतराय ये अशुभ कर्म हैं। शेष चार कर्म शुभ, अशुभ दोनों हैं। अशुभ कर्मों की उदयावस्था पाप है। उपचार से पाप कर्म-वन्धन के हेतु भी पाप कहलाते हैं। वे मुख्यतः अठारह हैं, जैसे—१ प्राणातिपात पाप, २ मृषावाद पाप, ३ अदत्तादान पाप, ४ मैथुन पाप, ५ परिग्रह पाप, ६ क्रोध पाप, ७ मान पाप, ८ माया पाप, ९ लोभ पाप, १० राग पाप, ११ द्वेष पाप, १२ कलह पाप, १३ अभ्याख्यान पाप, १४ पैशुन्य पाप, १५ पर-परिवाद पाप, १६ रति-अरति पाप, १७ माया मृषा पाप और १८ मिथ्यादर्शनशल्य पाप।

जिमके उदय से आत्मा अशुभ प्रवृत्ति में प्रेरित होती है, वह मोहनीय कर्म भी पाप कहलाता है। जैसे—जिस मोहोदय से प्राणी हिंसा के लिए प्रेरित होता है, वह प्राणातिपात पाप कहलाता है। जब असत्य में प्रवृत्त होना है तब वह मृषावाद-पाप कहलाता है। जैसे—धर्म और पुण्य भिन्न हैं वैसे ही अधर्म और पाप भी भिन्न हैं। अधर्म असत् प्रवृत्ति है और पाप उसके द्वारा आकृष्ट अशुभ कर्मों की उदयावस्था है। अधर्म चेतना की वैभाविक परिणति है और पाप कर्म-पुद्गल की परिणति है।

शुभ-अशुभ कर्मों की वद्धावस्था क्रमशः द्रव्य पुण्य-पाप है और उदयावस्था भाव पुण्य-पाप। कर्म-पुद्गल जब तक उदय में नहीं आते, फल-शून्य रहते हैं, तब तक "वन्ध" कहलाते हैं। जब उदय में आकर चेतना को प्रभावित करने लगते हैं तब पुण्य-पाप कहलाते हैं।

पुण्य-पाप—दोनों वन्धन हैं

व्यवहार के घरातल पर पुण्य काम्य और पाप अकाम्य माना जाता है। हर अध्यात्म की भूमिका में ये दोनों ही त्याज्य हैं। पुण्य और पाप—ये दोनों ही पौद्गलिक होने के कारण आत्मोदय के बाधक तत्त्व हैं। दोनों वन्धन हैं। दोनों वेडिया है। अतः इतना ही है कि पुण्य सोने की वेडी है और पाप लोहे की वेडी। पर वेडी आखिर वेडी है। वन्धन का हेतु है। दोनों प्रकार पुण्य और पाप दोनों वन्धन हैं, मुक्ति के बाधक हैं।

पुण्य की कामना पाप

यद्यपि पुण्य का वन्धन सत्क्रिया के द्वारा होता है, शुभ योगों की प्रवृत्ति में होता है। शुभयोग में निर्जरा होती है और साथ में पुण्य का वधन भी होता है। लेकिन पुण्य के लिए सत्क्रिया करना अध्यात्म-साधक के लिए विहित नहीं है। साधक तब साधना आदि आत्म-शुद्धि के लिए करे, निर्जरा के लिए करे, पर पुण्य की कामना से न करे। क्योंकि पुण्य मुक्ति का साधन नहीं है। जो पुण्य की कामना करता है, वह मुक्ति के बाधक है।

की इच्छा करता है। भौतिक सुखो की इच्छा करना पाप है—बन्धन का हेतु है।

पुण्य से वैभव, वैभव से मद, मद से मूढता और मूढता से पाप का आचरण होता है। पाप दुःख का हेतु है। इस प्रकार पुण्य की परम्परा दुःख-गर्भित है। पुण्य की आकाक्षा वे ही करते हैं, जो परमार्थ से अनभिज्ञ हैं।

कतिपय धार्मिक परम्पराएँ पुण्य के लिए सत्क्रिया का समर्थन करती हैं। आचार्य श्री भिक्षु ने इस मान्यता को स्वीकृति नहीं दी। आगमिक आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि धर्म के बिना पुण्य का स्वतंत्र बन्धन नहीं होता तथा पुण्य की इच्छा से धर्म करना अनुचित है। उन्होंने कहा—जो पुण्य की कामना से तप साधना आदि करते हैं, वे सत्क्रिया के सुफल से वंचित रह जाते हैं। पुण्य चतुःस्पर्शी-कर्म-पुद्गल हैं। जो उसकी इच्छा करते हैं वे मूढ हैं। वे धर्म और कर्म के मर्म को नहीं समझते।

पुण्योदय से होने वाले भौतिक सुखों में जो प्रसन्न तथा अनुरक्त होते हैं वे कर्म का सग्रह करते हैं। दुःख-परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। निश्चय दृष्टि से देखा जाए तो पुण्य की अभिलाषा करने वाला भोगो की अभिलाषा करता है। भोग नरक, तिर्यंच आदि गतिचक्र में परिभ्रमण का हेतु है।

श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा है—पुण्य की इच्छा मत करो, वह खुजली रोग जैसा है, जो प्रारम्भ में प्रिय लगता है, किन्तु उसका परिणाम विरस है। स्वर्ग, चक्रवर्ती आदि के सुख-भोग भी नश्वर हैं।

जैन आगमों ने गाया—ऐहिक या पारलौकिक कामना की पूर्ति के लिए तथा यश-प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए तप मत करो। वह मात्र निजंरा के लिए करो।

वेदात के आचार्यों ने कहा—मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध दोनों ही प्रकार के कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यहाँ काम्य और निषिद्ध कर्म का वाच्यार्थ पुण्य और पाप ही है। सामान्यतः पुण्य काम्य है और पाप निषिद्ध। अष्टयात्म के तीर्थयात्री के लिए दोनों वर्ज्य हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार पुण्य और पाप के क्षय से मुक्ति होती है। कर्म-क्षय के लिए अकर्म बनना आवश्यक है। प्रवृत्ति-निरोध से कर्म-निरोध होता है। साधना के प्रारम्भ में अमत्कर्म का निरोध होता है। एक भूमिका तक पहुँचने के पश्चात् सत्कर्म का भी निरोध हो जाता है। यही कर्म-क्षय की प्रक्रिया है यही दुःख-क्षय का उपाय है। भगवान् महावीर ने 'सूयगडो' सूत्र में कहा—

न कम्मणा कम्म खवेंति वाला ।

अकम्मणा कम्म खवेंति धीरा ॥

कर्म मे कर्मक्षय नहीं होता । धीरे पुरुष अकर्म से कर्म क्षय करते हैं ।
गीता का शिक्षापद है—बुद्धिमान वह है जो सुकृत (पुण्य) और
दुष्कृत (पाप) दोनों का परित्याग करे । इन सन्दर्भों से सिद्ध हो जाता है कि
अध्यात्म साधक के लिए पुण्य और पाप दोनों त्याज्य हैं ।

तत्त्व-मीमांसा की यात्रा मे धर्म और अधर्म तथा पुण्य और पाप का
सम्यक् अवबोध करना नितात अपेक्षित है ।

धर्माधर्मो पुण्य-पापे अजानन् तत्र मुह्यति ।

धर्माधर्मो पुण्य-पापे, विजानन् नात्र मुह्यति ॥

—सर्वोधि २/४०

जो व्यक्ति धर्म और अधर्म तथा पुण्य और पाप को नहीं जानता,
वह इस विषय मे मूढ़ होता है । जो इन्हें सम्यक् रूप से जानता है, वह इस
विषय मे मूढ़ नहीं होता ।

वह स्वतंत्र भी है और पूर्वोक्त चारों सूक्ष्म प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का हेतु भी है ।

चार सूक्ष्म वृत्तियाँ अशुभ ही होती हैं । योग शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है । अशुभ योग से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है । शुभ योग से शुभ कर्मों का बन्ध होता है और साथ में निर्जरा भी होती है । जैसे कुछ औषधियाँ रोगों का नाश करती हैं और शरीर का पोषण भी करती हैं, ठीक यही स्वभाव और काय शुभ योग का है । साधक पहले अशुभ का त्याग करता है और धीरे-धीरे शुभ कर्म भी छूट जाता है ।

शुभ प्रवृत्ति जब फलाशंसा और वासना से शून्य होती है, तब क्रमशः निवृत्ति का विकास होता है । पूर्ण निवृत्ति की स्थिति में आत्मा के बन्धन नहीं होता ।

मोक्ष और मोक्ष के उपाय

जैन-धर्म और मोक्ष

जैन-धर्म का लक्ष्य है—मोक्ष। यही है जैन साधना का गन्तव्य गिरगर।

कृत्स्नकर्मक्षयात्मानः स्वरूपावस्थान मोक्षः ।

—जै० सि० वी० ५/१९

समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने पर आत्मा अपने ज्ञानदर्शनमय स्वरूप में अवस्थित होती है, उसका नाम मोक्ष है। दूसरे शब्दों में बद्ध आत्मा का मुक्त होना ही मोक्ष है। इस दृष्टि से मुक्त आत्मा और मोक्ष भिन्न नहीं है। जिस अवस्था में कर्म-पुद्गलों का ग्रहण रुक जाता है और गृहीत कर्मों का संपूर्ण क्षय हो जाता है, वही मोक्ष है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा अपने कारणों में ही बन्धती है और अपने कारणों में ही मुक्त होती है। दूसरा कोई भी उसे बांधने वाला या मुक्त करने वाला नहीं है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है, फिर भी उचित उपायों द्वारा उस सबंध का भी अंत हो सकता है। जैसे धातु-लोधन की प्रक्रिया से धातु और मिट्टी अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही अष्टपात्म-साधना की विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है।

जैन सिद्धांत की भाषा में मुक्त आत्माओं को सिद्ध कहते हैं। सिद्ध भगवान् को बुद्ध, मुक्त, परमात्मा, परमेश्वर या ईश्वर नाम से भी अभिहित किया जाता है। सिद्धात्माएँ अनन्त हैं। इसीलिए जैन-दर्शन एकेश्वरवाद को स्वीकार नहीं करता।

कर्म-मुक्त होते ही आत्माएँ लोराग्र—लोका-शीर्ष तक पहुँच जाती हैं। वही उनका स्थायी निवास होता है। उनके निवास-स्थल को सिद्ध-गिराण कहते हैं। उनका दूसरा नाम है—“ईषत्प्राग्भारापृष्ठी।”

भद्र-धर्मण का हेतु है—राग-द्वेष। मुक्तात्माओं के राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए उनका पुनर्जन्म नहीं होता। वे वृष्टाभंवी हैं।

मोक्ष में मन, वाणी और कर्म नहीं हैं। इनके केन्द्र शरीर में होते हैं। सिद्ध जगदीश हैं, इसीलिए अकर्म हैं।

मोक्ष में आत्मा नचिदानन्द स्वरूप हो जाती है। वह ज्ञाना की चिन्ता अस्तित्व है। सुख-दुःख, लाभ-पलाय, जन्म-मृत्यु, आदि इष्ट

उसे कभी प्रभावित नहीं करते । वह देहातीत है, द्वन्द्वातीत है ।

प्रश्न होता है कि जब बन्धन और मुक्ति दोनों आत्मा के अधीन हैं तो फिर जीवात्मा बन्धन से मुक्ति की दिशा में कैसे प्रस्थान कर सकती है ? बन्धन-मुक्ति की प्रक्रिया क्या है ?

जैन साधना-पद्धति के अनुसार मोक्ष के उपाय हैं—सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य । एक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य आत्मा का स्वरूप है । मोक्ष का अर्थ है—स्वरूप की उपलब्धि या स्वरूप में अवस्थिति । उमका उपाय है—सवर और निर्जरा ।

जैसे किसी बहुत बड़े तालाब के जलागम के स्रोतों को बन्द कर दिया जाए, भीतर के पानी को जल-प्रणालियों द्वारा बाहर निकाल दिया जाए तथा बचे-खुचे पानी का सूरज की प्रखर किरणों से अवशोषण हो जाए तो तालाब क्रमशः खाली हो जाता है, सूख जाता है, वैसे ही आत्मा की ओर आने वाले कर्म-प्रवाह का सवर द्वारा निरोध कर देना और अन्तः स्थिति कर्म-मलों का निर्जरा द्वारा निष्कासन और अवशोषण कर देना, यही है मुक्ति की प्रक्रिया । इससे कर्म-पुद्गलों का ग्रहण रुक जाता है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है । ऐसा होने पर आत्मा सिद्ध-बुद्ध, परमात्मरूप में अवस्थित हो जाती है । अब उसके पास ससार में रहने का कोई कारण नहीं रह जाता । अतः वह निर्वाण को प्राप्त हो जाती है ।

तान्पर्य की भाषा में मोक्ष के साधक तत्त्व दो हैं—सवर और निर्जरा । दूमरे शब्दों में निवृत्ति और सत् प्रवृत्ति ।

सवर—मोक्ष का पहला उपाय है—सवर ।

आश्रवनिरोधः सवर ।

जै. सि दी ५/१

मोक्ष के बाधक और साधक तत्त्वों की चर्चा में आश्रव को बाधक तथा सवर और निर्जरा को साधक माना गया है । सवर आत्मा की वह परिणति है, जिससे आश्रव का निरोध होता है । सवर मोक्ष का प्रकृष्ट हेतु है । वह आत्म-संयम करने से उपलब्ध होता है । सवर आश्रव का प्रतिपक्षी है । इसीलिए जितने आश्रव हैं, उतने ही सवर हैं । आश्रव के पांच विभाग हैं तो संवर भी पांच प्रकार का है ।

सम्यक्त्व सवर—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है । जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों के प्रति सम्यक् श्रद्धा का होना तथा विपरीत श्रद्धा का त्याग करना सम्यक्त्व सवर का स्वरूप है । यह मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी है ।

विपरीत सवर—वाह्य पदार्थों के प्रति अनासक्ति अथवा अशुभ योग का त्याग विरति सवर है । इसके दो रूप हैं—देश विरति और सर्व-

विरति । मत्पाप-प्रवृत्तियों का आश्रित न्याय देण विरति और जीवन भर के लिए संपूर्ण त्याग सर्वविरति है । विरति सवर अविरति आस्रव का प्रतिपक्षी है ।

अप्रमाद सवर — आत्म-विकास के प्रति जागरूक भाव अप्रमाद सवर है । इन स्थिति में पहुँचने के पश्चात् व्यक्ति पापकारी प्रवृत्ति नहीं करता । यह प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है ।

अकषाय सवर — क्रोध, मात्, माया और मोह का निराध करना अकषाय सवर है । जैसे राग-द्वेषात्मक उन्नाप जितना कम होता है, उतना ही कषाय कम होता है । पर अकषाय सवर फलित होना है कषाय के सर्वथा क्षीण होने से । यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है ।

अयोग-सवर योग का अर्थ है प्रवृत्ति । प्रवृत्ति का निरोध करना अयोग सवर है । प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है — शुभ और अशुभ । अशुभ प्रवृत्ति का संपूर्ण निरोध व्रत (विरति) सवर है । शुभ प्रवृत्ति का संपूर्ण निरोध अयोग सवर है । जब तक योग का संपूर्ण निरोध नहीं होता, उत योग-मयम को अयोग सवर का समूह माना जाता है । अयोग सवर की स्थिति में पहुँच जाने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है ।

इन पांच सवरों में पहुँचने सम्यक्त्व सवर होता है, फिर विरति होती है । उसके पश्चात् क्रमशः अप्रमाद, अकषाय और अयोग की स्थिति उपलब्ध होती है ।

जैसे सवर के अनेक प्रकार बतलाये गए हैं, पर वे विभिन्न विद्वानों के आधार पर वर्णित हैं । सवर के बीच भेद भी काफी प्रसिद्ध हैं । सामान्यतः उन सवरों का समावेश इन पांच भेदों में हो जाता है ।

निर्जरा — 'तपसा समविच्छेदादानमर्नमंस्त्य निर्जरा । तपस्या के द्वारा कम-मल का विच्छेद होने से जो आत्मा की विमृष्टि, उज्वलता होती है, उसे शास्त्रीय भाषा में निर्जरा कहते हैं । निर्जरा का उपाय तप है — तप । इसलिए तप को भी निर्जरा कहते हैं । जैन साधना का विस्तार तप के आधार पर हुआ है । तप के दारु प्रचार है । इसलिए जैन साधना-चरित को 'शाश्वत तपोयोग' भी कहते हैं । निर्जरा तप का फलित है, जैन तप की भाँति निर्जरा के भी दारु प्रचार है ।

१ जगत साधना या विदधित आहार-विराग ।

२ ऊँचरी सामान्यतः दूरान की मात्रा का तप करना उदाहरण है । इसमें ध्यान-वाच दोनों सम्मिलित हैं । जैन साधना प्रचार की भोग-त्याग की या उत्सीकरण ऊँचरी तप है ।

३ भिक्षाचरी दण्डा दूरान तप है । प्रति-सहस्र • विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों के द्वारा भाजन के परिहार को सवर की विधि

करना वृत्ति-सक्षेप है ।

४. रस-परित्याग—दूध, दही, घी आदि सरस-स्निग्ध पदार्थों का वर्जन करना, अस्वाद का अभ्यास करना रस-परित्याग है ।

५ कालक्लेश—विभिन्न आसनो द्वारा शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है ।

६. प्रतिसलीनता—इन्द्रिय, मन आदि की वहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसलीनता है ।

तप के उक्त छह प्रकारो को बाह्य तप कहते हैं । ये विशेष रूप से स्थूल शरीर को प्रभावित करते हैं और बाह्यरूप से दिखाई देते हैं, इसलिए इन्हे बाह्य-तप कहते हैं, तथापि अतरग तप को पुष्ट करने में इनकी अह भूमिका रहती है । तपोयोग की यात्रा में खाद्य सयम का पहला स्थान है । बाह्य तप के चार भेद इसी परिप्रेक्ष्य में किए गए हैं । साधना के विकास हेतु यह आवश्यक भी है । खाने के सयम के बिना सयम और तप की अग्रिम भूमिका तक नहीं पहुँचा जा सकता । अच्छाई का प्रारम्भ आहार-शुद्धि के त्रत से होता है । आहार-शुद्धि से सस्कार-शुद्धि, सस्कार-शुद्धि से विचार-शुद्धि और विचार-शुद्धि से व्यवहार-शुद्धि होती है ।

बाह्य तप की भाँति अतरग तप के भी छह प्रकार हैं ।

१ प्रायश्चित्त—दोष की विशुद्धि के लिए प्रयत्न करना प्रायश्चित्त है । इससे आत्मा निर्मल होती है । ऋजुता-पूर्वक प्रायश्चित्त करने से मन की ग्रन्थियो का मोचन होता है और नया ग्रन्थिपात नहीं होता ।

२. विनय—कर्मों का अपनयन करना विनय का आध्यात्मिक पक्ष है । अह-विसर्जन, बडो का बहुमान और उनके प्रति असद् व्यवहार का वर्जन विनय का व्यावहारिक पक्ष है ।

३. वैयावृत्य—सहयोग की भावना से सेवा-कार्य में जुड़ना वैयावृत्य है । इस तप की आराधना करने वाला छोटी-बडो की अपेक्षाओं को समझ कर सेवा-भावना और कर्तव्य-निष्ठा से उनका सहयोगी बनता है । पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने पर ही वैयावृत्य किया जा सकता है । यहाँ आध्यात्मिक सेवा ही तप की श्रेणी में आती है । वही निर्जरा का कारण है ।

४. स्वाध्याय—आध्यात्मिक ग्रन्थो के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन का नाम स्वाध्याय है ।

५. ध्यान—मन की एकाग्रता तथा योग-निरोध का नाम ध्यान है । इससे चित्त-शुद्धि और आन्तरिक निर्मलता का विकास होता है । ध्यान की अन्तिम निष्पत्ति है—ज्ञाता-द्रष्टा भाव को जागृत कर आत्म-स्वरूप में अवस्थित होना ।

६ च्युतग - साहू या विनयन च्युतग है। यह शरीर न प्रारम्भ होता है, जिन काया नग रहते हैं। साधारण का नर दुःखों का जन्म करने वाला कहा गया है। इसकी साधना न नारायण, मानसिक और भावनात्मक साधन प्रभाष्य होता है। तनार-जित्त तभी चम्प्याला ने छुटकारा मिलता है। च्युतग की लक्ष्म साधना है पदार्थ-नष्ट का विनयन, सहयोग का विनयन, व्यापना या विनयन और कर्मों का विनयन।

७ तप का प्रकार अत शरीर—नृधम शरीर को विनयन में प्रभावित करने है। इसमें मम शरीर क्षीण होता है। ये मोक्ष साधना में जन्तुग हेतु बाने हैं, इसी तप के आश्रय तप की श्रमी म जाते हैं। साहू नर ही भाति इस अन्तर्गत तप न नष्ट शरीर प्रभावित होता है। ऐसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु भीतर ही भीतर मन्वान (मम) शरीर म विस्फोट करने की प्रणिया प्रवृत्ती रहती है।

जैन-धम जड़ प्रियावाशी नहीं है। अत उगमे ज्ञान तप की प्रतिष्ठा नहीं है। जैन-धम में तप का अर्थ है वह अनुष्ठान जो इन्द्रिय और मन का नियंत्रण करता है तथा मम-शरीर का तपता है। कामण शरीर का तापक होने में ही तप आत्मिक निर्मलता को सदादिन कर सकता है।

राग और द्वेष पर-द्रव्य है, विभाव है, आत्मा को अगुठ करने वाले हैं। मयम और तप या साधना में आत्मा विभाव न मुक्त हो, स्वभाव में स्थित हो जाती है। इनके साधन की आपना न दिव्य ज्योति प्रकट होती है। यत धैर्य म न आशोक में भर जाता है तथा धृष्ट होकर मुक्त हो जाता है। मास-अवस्था में प्रत्येक मुक्तता समाप्त होती है। मुक्ति का द्वार अत मयम लिए खुला है जो मयम और निजग की साधना में समर्पित हो जाते हैं।

जैन दर्शन में द्रव्यवाद

हम जिस दुनिया में जीते हैं वह अगणित रहस्यों के घेरो में कैद है। प्रत्येक बुद्धिमान या चिंतनशील व्यक्ति उन घेरो को पार कर सत्य के केन्द्र तक पहुँचना चाहता है, यथार्थता का बोध करना चाहता है। दर्शन-जगत् और विज्ञान-जगत् अपने-अपने ढंग से इन रहस्यों को अनावृत्त करने के लिए विश्व के स्वरूप की चर्चा करते हैं। इस सन्दर्भ में जैन-दर्शन का मतव्य सर्वथा मौलिक और अद्भुत है। कई दृष्टियों से वह आधुनिक विज्ञान की अवधारणाओं से भी समानता रखता है।

जैन-दर्शन में विश्व के लिए 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। लोक के स्वरूप की विवेचना में वह पञ्चास्तिकायवाद या षट्द्रव्यवाद का विशदता से प्रतिपादन करता है। लोक की व्याख्या का आधार छह द्रव्यों का अस्तित्व ही है। अनन्त आकाश के जिस भाग में छह द्रव्य हैं, वह लोक है।

लोक भाषा में द्रव्य शब्द का अर्थ है—वस्तु, पदार्थ या मेटर। समूचा विश्व पदार्थों से या वस्तुओं से भरा पडा है। पर दर्शन की भाषा में उन सब वस्तुओं को द्रव्य नहीं कहा जाता। मूलभूत पदार्थ या वस्तु (अल्टीमेट रियल्टी) को ही द्रव्य कहा जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार समग्र विश्व की सरचना या व्यवस्था के मौलिक अंग छह हैं। उन्हें षट् द्रव्य कहते हैं। यह विश्व षट्द्रव्यात्मक है। विश्व में जितने भी पदार्थ अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं, उन सबका समावेश इन छह मौलिक द्रव्यों में किया गया है। इन छह द्रव्यों की व्याख्या ही विश्व स्वरूप की व्याख्या है।

द्रव्य

किसी भी पदार्थ को मौलिक द्रव्य की सजा तभी मिल सकती है, जबकि उसमें अपना कोई एक विशेष लक्षण ऐसा हो जो अन्य द्रव्यों में न मिले और उस द्रव्य में उसका अस्तित्व सदा-सर्वथा बना रहे। अवस्था-परिवर्तन के बावजूद भी उस गुण-धर्म की ध्रुवता लक्षित वस्तु में अवश्य उपलब्ध हो, इस परिभाषा के अनुसार विश्व-व्यवस्था के हेतुभूत ये छह द्रव्य हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। इनमें पांच अस्तिकाय हैं—

धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकायद्रव्याणि ।

—जं. सि. वी. १/१

धर्मातिशय, अर्धधर्मातिशय, अर्धधर्मातिशय, पुद्गलधर्मातिशय
 और जीवधर्मातिशय । ये सब धर्मातिशय ही धर्मातिशय हैं ।

गुणवर्षायाप्रयोगम् ।

— जं नि ही १/३

इस का अर्थ है कि, गुण ही धर्मातिशय का कारण है । धर्मातिशय ही
 और धर्मातिशय ही धर्मातिशय हैं, यह धर्मातिशय प्रत्यक्ष होने से धर्मातिशय का अर्थ
 प्रत्यक्ष में ही आता है ।

सामान्य परिभाषा

धर्मातिशय—धर्म का माध्यम स्वरूप ।

अर्धधर्मातिशय—धर्म का माध्यम स्वरूप ।

अर्धधर्मातिशय—अर्धधर्मातिशय का अर्थ ही धर्मातिशय स्वरूप ।

धर्मातिशय—धर्म का अर्थ ही धर्मातिशय स्वरूप ।

पुद्गलधर्मातिशय—धर्म, गुण, धर्म और धर्म का अर्थ ही धर्मातिशय स्वरूप ।

जीवधर्मातिशय—धर्म का अर्थ ही धर्मातिशय स्वरूप ।

इस का अर्थ प्रत्यक्ष का प्रतिकारण धर्म-धर्म ही धर्मातिशय विधायक है ।
 धर्म का अर्थ ही धर्मातिशय का अर्थ ही धर्मातिशय स्वरूप का अर्थ ही धर्मातिशय स्वरूप है ।

धर्मातिशय—(Medium of motion of souls, matter and
 energies)

संपूर्ण विश्व-व्यवस्था में ये दोनों द्रव्य अहभूमिका रखते हैं । एक ससार की सक्रियता का माध्यम है तो दूसरा निष्क्रियता का ।

धर्मो गति स्वभाव अथाऽधर्मः स्थिति लक्षण ।

तयोर्योगात्पदार्थानां गति-स्थितौ रूढाहृते ॥

(—सबोधि)

जीव और पुद्गल की गति-स्थिति क्रमशः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पर ही निर्भर है ।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व प्रायः सभी दार्शनिक और वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं, किंतु धर्म और अधर्म की भीमासा जैन-दर्शन की मौलिक देन है । ये दोनों द्रव्य लोक-परिमित हैं । अलोक में इनका सर्वथा अभाव है, इसलिए ये लोक और अलोक के विभाजक तत्त्व भी हैं । धर्म और अधर्म के अभाव के कारण ही अलोक में जीव तथा पुद्गल की सत्ता, गति और अवस्थिति नहीं है ।

आकाशास्तिकाय—(space, medium of location of soul etc)

अवगाह लक्षण आकाश —आश्रय देने वाला द्रव्य आकाशास्तिकाय है । यह चराचर जगत् आकाश के आधार पर ही टिका हुआ है । आकाश के दो भेद हैं—लोक और अलोक । जो आकाश षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है । जहाँ आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं होता वह अलोकाकाश है । विज्ञान ने परमाणु के भीतर ऋणावेशी (नेगेटिव) कणों की खोज की है तो घनावेशी (पोजीटिव) कणों की भी खोज की है । प्रत्येक कण के साथ एक प्रतिकण का भी अस्तित्व है । यह विश्व सप्रतिपक्ष है । प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का भी कोई अस्तित्व या मूल्य नहीं रह जाता है । एक परमाणु में अनेक प्रतिपक्षी गुण-धर्म रहते हैं । परमाणु के भीतर ऋणावेशी इलेक्ट्रॉन है तो उसका प्रतिकण घनावेशी प्रोटॉन भी है । इस प्रकार यदि परमाणु के भीतर कणों और प्रतिकणों का अस्तित्व है तो ब्रह्मांड में भी विश्व तथा प्रतिविश्व होना चाहिए । वैज्ञानिक अभी तक इस सदर्थ में किसी निर्णायक स्थिति में नहीं पहुँचे हैं, पर जैन-दर्शन इस माने में बहुत ही स्पष्ट है । उसे प्रारम्भ से ही लोक और अलोक का अस्तित्व मान्य है ।

काल—(Time)

काल समयादि —समय आदि को काल कहते हैं । समय काल का सूक्ष्मतम अंश है । काल अप्रदेशी है, अवयव रहित है । छह द्रव्यों में काल की गणना औपचारिक रूप से की गई है । वास्तविक दृष्टि से काल द्रव्य न होकर जीव-अजीव की पर्याय मात्र है । फिर भी प्रत्येक पदार्थ में घटित होने वाले परिवर्तन का हेतु काल ही है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से वह

संपूर्ण विश्व-व्यवस्था में ये दोनों द्रव्य अहभूमिका रखते हैं । एक ससार की सक्रियता का माध्यम है तो दूसरा निष्क्रियता का ।

धर्मो गति स्वभाव अथाऽधर्मः स्थिति लक्षण ।

तयोर्योगात्पदार्थानां गति-स्थितौ रूढाहते ॥

(—सबोधि)

जीव और पुद्गल की गति-स्थिति क्रमशः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पर ही निर्भर है ।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व प्रायः सभी दार्शनिक और वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं, किंतु धर्म और अधर्म की मीमांसा जैन-दर्शन की मौलिक देन है । ये दोनों द्रव्य लोक-परिमित हैं । अलोक में इनका सर्वथा अभाव है, इसलिए ये लोक और अलोक के विभाजक तत्त्व भी हैं । धर्म और अधर्म के अभाव के कारण ही अलोक में जीव तथा पुद्गल की सत्ता, गति और अवस्थिति नहीं है ।

आकाशास्तिकाय—(Space, medium of location of soul etc)

अवगाह लक्षण आकाश —आश्रय देने वाला द्रव्य आकाशास्तिकाय है । यह चराचर जगत् आकाश के आधार पर ही टिका हुआ है । आकाश के दो भेद हैं—लोक और अलोक । जो आकाश षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है । जहाँ आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं होता वह अलोकाकाश है । विज्ञान ने परमाणु के भीतर ऋणावेशी (नेगेटिव) कणों की खोज की है तो घनावेशी (पोजीटिव) कणों की भी खोज की है । प्रत्येक कण के साथ एक प्रतिकण का भी अस्तित्व है । यह विश्व सप्रतिपक्ष है । प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का भी कोई अस्तित्व या मूल्य नहीं रह जाता है । एक परमाणु में अनेक प्रतिपक्षी गुण-धर्म रहते हैं । परमाणु के भीतर ऋणावेशी इलेक्ट्रॉन है तो उसका प्रतिकण घनावेशी प्रोटॉन भी है । इस प्रकार यदि परमाणु के भीतर कणों और प्रतिकणों का अस्तित्व है तो ब्रह्मांड में भी विश्व तथा प्रतिविश्व होना चाहिए । वैज्ञानिक अभी तक इस सदर्थ में किसी निर्णायक स्थिति में नहीं पहुँचे हैं, पर जैन-दर्शन इस माने में बहुत ही स्पष्ट है । उसे प्रारम्भ से ही लोक और अलोक का अस्तित्व मान्य है ।

काल—(Time)

काल समयादि —समय आदि को काल कहते हैं । समय काल का सूक्ष्मतम अंश है । काल अप्रदेशी है, अवयव रहित है । छह द्रव्यों में काल की गणना औपचारिक रूप से की गई है । वास्तविक दृष्टि से काल द्रव्य न होकर जीव-अजीव की पर्याय मात्र है । फिर भी प्रत्येक पदार्थ में घटित होने वाले परिवर्तन का हेतु काल ही है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से वह

द्रव्य माना जाता है। नैश्चयिक काल समग्र विश्व में है, किंतु सूर्य-चन्द्रमा की गति से सापेक्ष समय मनुष्य लोक में ही है।

पुद्गलास्तिकाय—(Matter and energy)

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवान् पुद्गल—यह जैन-दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त जड पदार्थ पुद्गल कहलाता है। आधुनिक परिवेश में उसे जड या भौतिक पदार्थ के रूप में जाना जाता है, जिसमें विज्ञान-सम्मत 'मैटर' और 'एनर्जी' दोनों का समावेश हो जाता है।

संसार में जितने भी दृश्य पदार्थ हैं सब पुद्गल हैं। ध्वनि, प्रकाश चुम्बकत्व, उष्मा आदि जिन्हे विज्ञान ऊर्जा (एनर्जी) के रूप में स्वीकार करता है, पुद्गल के ही रूप हैं।

प्राणी-जगत् के मन, भाषा, श्वास-प्रश्वास, शरीर, आहार आदि से सवधित समस्त प्रवृत्तियाँ पुद्गल-शक्ति के योग से संचालित हैं। जगत् के विभिन्न पदार्थों के निर्माण और विनाश का आधारभूत तत्त्व पुद्गलो का सयोग और वियोग ही है। जीव की विविध रूपों में परिणतियाँ पुद्गल-सापेक्ष ही हैं। जीव और पुद्गल का सम्बन्धअनादि कालीन है। वही संसार का हेतु है। पुद्गलो के सयोग से मुक्त होते ही आत्मा का परमात्मतत्त्व प्रकट हो जाता है। वह मिद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

जीवास्तिकाय—(Soul, substance possessing consciousness)

चैतन्ययुक्त अमूर्त अवयवी द्रव्य का नाम जीव है। वह असंख्य प्रदेशी पिंड है, फिर भी अविभाज्य है।

जीव का लक्षण है उपयोग—चेतना की सक्रियता। स्वसंवेदन और मुख दुःख का संवेदन। जीव का अस्तित्व अकालिक है। स्वतंत्र है। वह जड तत्त्व से उत्पन्न नहीं होता और न कभी जड रूप में परिवर्तित होता है। मसारी जीव कर्म-बद्ध होता है। कर्म-शरीर की प्रेरणा में वह संसार में भ्रमण करता है, नाना योनियों में सुख-दुःख का अनुभव करता है। उसमें संकोच-विस्तार की अद्भुत क्षमता है। जन्मान्तर की यात्रा में जब उसे छोटा शरीर मिलता है तो उमी में समा जाता है और जब बड़ा शरीर मिलता है तो उतना विस्तार पा लेता है। जैन-दर्शन का जीव-विज्ञान सूक्ष्म विश्लेषण का विषय है। जीव का अस्तित्व, उसके भेद-अभेद, विकास-क्रम, बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया—इत्यादि विषयों की सामान्य अवगति के पश्चात् छद्म द्रव्यों के सम्बन्ध में कुछ तथ्य और मननीय हैं—

• छद्म द्रव्यों में जीव चेतन है, शेष जड हैं।

- ० पुद्गल मूर्त्त है, शेष अमूर्त्त हैं ।
- ० आकाश लोक-अलोक में व्याप्त है, शेष द्रव्य लोक-परिमित हैं ।
- ० जीव और पुद्गल गतिशील हैं, शेष गति-शून्य हैं ।
- ० जीव और पुद्गल अनन्त-अनन्त द्रव्य हैं, शेष एक-एक द्रव्य हैं ।

चार अस्तिकाय प्रदेश-परिमाण से तुल्य है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव ।

(ठाण—४/४९५)

चार अस्तिकायो से समूचा लोक स्पृष्ट-व्याप्त है—धर्मास्तिकाय से, अधर्मास्तिकाय से, जीवास्तिकाय से और पुद्गलास्तिकाय से ।

(ठाण—४/४९३)

चार कारणो से जीव और पुद्गल लोक से बाहर नहीं जाते—गति के अभाव से, निरूपग्रहता—गति तत्त्व का आलम्बन न होने से, रुक्ष होने से तथा लोकानुभाव से—लोक की सहज मर्यादा होने से ।

(ठाण—४/४९८)

तत्त्व बोध की यात्रा में षट्द्रव्यवाद का यह बोध-पाठ जिज्ञासा की नई खिडकिया खोलेगा तथा तत्त्व-रश्चि की रश्मिया उसमें से निर्वाध प्रवेश पा सकेंगी, ऐसा विश्वास है ।

जैन-दर्शन में पुद्गल

जैन-दर्शन अनेकातवादी दर्शन है। वह न एकेश्वरवादी है और न केवल प्रकृतिवादी। वह जड़ और चेतन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। उसके अभिमत से जीव और अजीव दोनों वास्तविक तत्त्व हैं। विश्व व्यवस्था के आधारभूत छह द्रव्यों में जीव के अतिरिक्त पांच द्रव्य अचेतन हैं। उनमें एक है पुद्गलास्तिकाय। यह स्वतन्त्र द्रव्य है। इसका अस्तित्व श्रैकालिक है। यह सावयवी है, मूर्त्त है।

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राणी-जगत् के सपर्क में आने वाली दृश्य, श्रव्य प्रत्येक वस्तु पुद्गल है। विज्ञान जिसके लिए "मैटर" शब्द का प्रयोग करता है, जैनेतर दर्शन जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन पुद्गल कहता है।

साख्य दर्शन में जो स्थान प्रकृति का है, वही स्थान जैन-दर्शन में पुद्गल का है। जीव के ससार-परिभ्रमण और सुख-दुःख के भोग का कार्य पुद्गल-सापेक्ष है। साख्य-दर्शन की प्रकृति की भांति पुद्गल का विकास बुद्धि के रूप में नहीं होता। बुद्धि चेतना का गुण है। पुद्गल जड़ है।

पुद्गल जैन साहित्य का पारिभाषिक शब्द है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— "पूरण-गलन-धर्मत्वात् पुद्गल ।"

पुद्गल पूरण-गलन-धर्मा होता है। "पुद्" का अर्थ होता है सश्लेष, मिलना और "गल" का अर्थ है विश्लेष, अर्थात् जो द्रव्य प्रतिक्षण मिलता-गलता रहे, वनता-विगडता रहे, टूटता-जुडता रहे, वह पुद्गल है। छह द्रव्यों में पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो खडित भी होता है और आपस में सवद्ध भी होता है।

पुद्गल की व्यावहारिक पहचान है— जो छुआ जा सके, चखा जा सके, सूँघा जा सके और देखा जा सके वह पुद्गल है। इसकी सैद्धांतिक परिभाषा होती है— "स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवान्-पुद्गल" अर्थात् जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण निश्चित रूप में पाए जाएं, वह पुद्गल है।

स्पर्श—स्पर्श आठ प्रकार का होता है— स्निग्ध, रुक्ष, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, लघु और गुरु। स्थूल पुद्गल-समूह (स्कन्ध) में आठों ही स्पर्श होते हैं। सूक्ष्म पुद्गल समूह में चार स्पर्श होते हैं— स्निग्ध-रुक्ष तथा शीत और उष्ण।

जैन-पुद्गल विज्ञान में उन पुद्गलो को चतुःस्पर्शी पुद्गल कहा जाता है ।

स्पर्श—परमाणु में स्पर्श दो ही होते हैं । शीत और उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रुक्ष में से कोई एक । परमाणु पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई है । अतः उसमें मृदुता-कठोरता, हलकापन तथा भारीपन असम्भव है ।

गंध—गंध के दो प्रकार हैं—सुगंध और दुर्गंध ।

वर्ण (रंग)—वर्ण के पाँच प्रकार हैं—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत । दो या दो से अधिक रंगों के सम्मिश्रण से अनेक नये रंग बन जाते हैं, किन्तु उनका अन्तर्भाव इन पाँच रंगों में ही हो जाता है ।

रस—रस पाँच प्रकार के हैं—मधुर, अम्ल, कटु, कषैला और तिक्त ।

पुद्गल के चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । इनमें भी मौलिक भेद दो ही हैं—स्कन्ध और परमाणु । देश और प्रदेश ये कल्पिक भेद हैं ।

स्कन्ध—परमाणुओं के एकीभाव को स्कन्ध कहते हैं । दो परमाणुओं के संयोग से जो स्कन्ध बनता है, द्विप्रदेशी स्कन्ध है । इसी प्रकार वे त्रिप्रदेशी दसप्रदेशी, सख्येय प्रदेशी, असख्येय प्रदेशी, असख्यात तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्धों का निर्माण करते हैं । एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं, जैसे—अनेक शिलाखड । अनेक स्कन्ध मिलकर भी एक स्कन्ध का निर्माण कर देते हैं, जैसे—अनेक तन्तुओं से निर्मित अखड वस्त्र ।

देश—वस्तु के अविभाज्य काल्पनिक भाग को देश कहते हैं । जैसे—पाँच मीटर कपड़े का एक तिहाई भाग, दो तिहाई भाग इत्यादि ।

प्रदेश—वस्तु के अविभाज्य-परमाणु जितने भाग को प्रदेश कहते हैं । इसे वस्तु के घटक तत्त्वों की अन्तिम ईकाई कह सकते हैं ।

परमाणु—वस्तु का वह सूक्ष्मतम कण जो उससे पृथक् हो गया है । परमाणु इतना सूक्ष्म है कि उसको तोड़ा नहीं जा सकता । उसके अंश नहीं हो सकते । प्रदेश और परमाणु में इतना ही अन्तर है कि प्रदेश वस्तु से अपृथक् होता है और परमाणु पृथक् । परमाणु को अविभागी, प्रतिच्छेद भी कहते हैं । वह अतिसूक्ष्म है ।

स्वतंत्र परमाणु आँखों से नहीं देखा जा सकता । जिसे हम देखते हैं, वह पुद्गल-समूह है । स्कन्ध है । आधुनिक भौतिक विज्ञान भी इसका सवादी है । वैज्ञानिक मान्यता है कि जब हम परमाणु को देखते हैं तो निश्चित ही किसी-न-किसी शक्तिशाली भौतिक उपकरण का प्रयोग करते हैं । वह उपकरण किसी न किसी रूप में परमाणु को प्रभावित करता है, उसमें परिवर्तन

हो जाता है और हम उस परिवर्तित परमाणु को ही देख पाते हैं। वास्तविक परमाणु को नहीं। जैन मान्यता के अनुसार वह स्कंध है, उसे भी अनुयोगद्वारा मे किसी अपेक्षा से परमाणु कहा है। वह व्यावहारिक परमाणु है।

विज्ञान भी परमाणु को अदृश्य मानता था। परमाणु अर्थात् किसी भी पदार्थ का सबसे सूक्ष्म टुकड़ा जिसे और सूक्ष्म न किया जा सके। विज्ञान की भाषा में परमाणु अर्थात् एक किलोमीटर का सोलह करोड़वा हिस्सा। अनेक प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रॉन इसकी संरचना मे आधारभूत बनते हैं। माइक्रोस्कोप के माध्यम से विज्ञान ने परमाणु के इस रूप को देखने मे सफलता प्राप्त कर ली है। माइक्रोस्कोप वह यंत्र है जो प्रकाश किरणों के परावतन द्वारा वस्तु को बड़ी कर दिखाता है। इसके आविष्कार मे भी उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। अनेक प्रकार के असाधारण शक्ति-सम्पन्न यंत्रों का निर्माण हुआ है। उनमें कुछेक ये हैं—

- ० लाइट माइक्रोस्कोप—वस्तु को अधिक से अधिक दो हजार गुना बड़ा कर दिखाने वाला यंत्र।
- ० इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप—वस्तु को दस लाख गुना बड़ा कर दिखाने वाला यंत्र।
- ० इलेक्ट्रॉन टनेलिंग स्केनर—वस्तु को तीस करोड़ गुना बड़ा कर दिखाने वाला यंत्र।

इसका आविष्कार स्विट्जरलैंड के वैज्ञानिक ने किया है, जिसके आधार पर “टनेलिंग ऑफ इलेक्ट्रॉन्स” का सिद्धान्त विकसित हुआ। जैन-दर्शन सम्मत परमाणु और विज्ञान का “एटम” अनेक समानताओं के बावजूद भी एक नहीं है। रसायन शास्त्र की खोज “एटम” को परमाणु का ही दूसरा रूप नहीं माना जा सकता।

विज्ञान की पूर्व अवधारणा थी कि “एटम” को तोड़ा नहीं जा सकता। पर अब यह मान्यता बदल चुकी है। वैज्ञानिक खोजों और प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि “एटम” उद्युत्करण, निद्युत्करण और विद्युत्करण—प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन का एक पिण्ड है। इनके विपरीत परमाणु वह मूल कण है जो दूसरों के मेल के बिना अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए हुए है। विज्ञान-सम्मत अणु वास्तविक अणु नहीं है। जैन मान्यता के अनुसार उसे व्यावहारिक अणु कहा जा सकता है।

- ० परमाणु मे कोई एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते हैं।
- ० परमाणु के अस्तित्व का बोध उनके द्वारा निर्मित पुद्गल स्कंध रूप कार्य मे ही होता है।
- ० वह इतना सूक्ष्म है कि उसके आदि, मध्य और अन्त का

प्रश्न ही नहीं उठता ।

अन्य द्रव्यों की भाँति पुद्गल-द्रव्य के भी अनन्त पर्याय हैं । उनमें कुछ पर्याय ऐसे हैं जिनका प्राणी जगत् के साथ विशेष सबध है ।

शब्द, बधन, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान (आकृतिया) भेद, अहकार धूप, धाया, चादनी ये सब पुद्गल के विशिष्ट पर्याय हैं । ध्वानि भी पौद्गलिक है ।

सत् का एक अपरिहार्य लक्षण है—अर्थ क्रियाकारित्व—प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थ-क्रिया से स्वयं को तथा अन्य को प्रभावित करता रहता है—इसे उपग्रह या उपकरण भी कहते हैं । पुद्गल द्रव्य जहाँ पुद्गल का उपकार करता है वहाँ जीव द्रव्य का भी उपकार करता है । जीव और पुद्गल का अनादिकालीन सबध है । जीव की समस्त सासारिक अवस्थाएँ और क्रियाएँ पुद्गल सापेक्ष हैं । आहार, शरीर-निर्माण, इन्द्रिय-सरचना, श्वास-प्रश्वास, भाषा और मानसिक चिन्तन के लिए वह निरन्तर पुद्गल को ग्रहण करता रहता है, यानी जीव की ये सब क्रियाएँ पौद्गलिक हैं । पुद्गलो से सम्पादित होती हैं ।

पुद्गल ससारी जीवों के उपभोग में कैसे आते हैं, यह समझने के लिए पुद्गल की विभिन्न वर्गणाओं से परिचित होना भी जरूरी है । वर्गणा का अर्थ है—सजातीय पुद्गलो के विभिन्न वर्ग—श्रेणियाँ । वे मुख्यतः आठ हैं—

- औदारिक वर्गणा—स्थूल-शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल । जीवों के जितने दृश्य शरीर हैं वे सब औदारिक हैं ।
- वैक्रियवर्गणा—वैक्रिय शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल । वैक्रिय शरीर नारक और देवों के होता है । योगी लोग योगज विभूति के द्वारा विभिन्न रूपों का निर्माण करते हैं, वह भी वैक्रिय शरीर है ।
- आहारक वर्गणा—विचारों का सक्रमण करने वाले शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल ।
- तैजस् वर्गणा—विद्युतीय शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल ।
- कर्मण वर्गणा—कर्म-शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल ।
- भाषा वर्गणा—भाषा के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल ।
- मनोवर्गणा—मन के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल ।
- श्वासोच्छ्वास वर्गणा—श्वास-प्रश्वास के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल ।

ये वर्गणाए पूरे लोक में व्याप्त हैं। किन्तु इनका प्रयोग तभी संभव है, जब ये जीव द्वारा गृहीत हो जाए। इन वर्गणाओं के योग विना, ससारी प्राणी अपनी कोई भी क्रिया संपादित नहीं कर सकता। वह प्रतिक्षण इन वर्गणाओं के पुद्गला का ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करता रहता है। हमें जितने भी जड़ पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब या तो जीव द्वारा गृहीत हैं या जीव द्वारा त्यक्त।

प्रस्तुत चर्चा के माध्यम से पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध में प्राथमिक स्तर पर जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है। इससे पुद्गल सम्बन्धी ज्ञान के साथ हमारी दृष्टि स्पष्ट हो जानी चाहिए कि जीव और पुद्गल ये दोनों ही मौलिक तत्त्व हैं। ससार में जीव का स्थान महत्त्वपूर्ण है तो पुद्गल का स्थान भी कम महत्त्व का नहीं है।

ससार की लीला पुद्गलों की ही लीला है। जीव की सारी प्रवृत्तियाँ पुद्गल से ही संचालित हैं। पुद्गल के बिना जीव एक क्षण के लिए भी ससार में नहीं रह सकता। पुद्गल-जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही जीव की मुक्ति संभव है।

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार यह विश्व छ द्रव्यों का समूह है। पर्याय की दृष्टि से छहों द्रव्य परिणमनशील हैं। परिणमन दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और वैभाविक। घर्मास्तिकाय, अघर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन चार द्रव्यों में स्वाभाविक परिणमन होता है। जीव और पुद्गल में स्वाभाविक और वैभाविक दोनों प्रकार के परिणमन होते हैं।

दृश्य जगत् की विचित्रता का कारण है जीव और पुद्गल का परिणमन। उसमें भी पुद्गल द्रव्य का परिणमन विशेष महत्त्वपूर्ण है। विश्व के छोटे-बड़े सभी दृश्य-पदार्थ पुद्गल के विविध परिणमनों के कारण ही निमित्त होते हैं और नष्ट होते हैं। पुद्गल का लक्षण है—स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्णयुक्त होना। किन्तु पुद्गल के ये गुण विभिन्न प्रकार के परमाणुओं के संयोग-वियोग के कारण निरन्तर बदलते रहते हैं। पुद्गल वा स्पर्श बदल जाता है, स्वाद बदल जाता है, गन्ध बदल जाती है और रूप भी बदल जाता है, किन्तु एक बात शातव्य है कि पुद्गल में संयोग-वियोग-जनित चाहे जितना परिवर्तन हो जाए फिर भी वह स्पर्शहीन, रसहीन, गन्धहीन और वर्णहीन नहीं होता।

पुद्गल या छोटा या बड़ा, दृश्य या अदृश्य कोई भी रूप हो, उसमें स्पर्श आदि चारों गुण अवश्यभावी हैं। जहाँ एक गुण होगा वहाँ प्रकट-अप्रकट रूप से दोष तीन गुण अवश्य होंगे। यह बात विज्ञान भी स्वीकार करता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ स्पर्श आदि चारों गुणों से युक्त होता

है। यह दूसरी बात है कि हमारी इन्द्रिय उसे ग्रहण करती है या नहीं जैसे उपस्तु किरण, जो अदृश्य ताप किरणों हैं, उन्हें हम नहीं देख सकते किंतु उल्लू और बिल्ली इन किरणों की सहायता से देख सकते हैं।

न्याय-दर्शन पृथ्वी आदि भूतो में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन पुद्गल धर्मों को समन्वित रूप में स्वीकार नहीं करता। वह कहीं-कहीं एक दो अथवा तीन धर्मों का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। उसके अभिमत रस जल के परमाणुओं में गंध नहीं होती, अग्नि के परमाणुओं में गंध और रस नहीं होते तथा वायु के परमाणुओं में केवल स्पर्श ही होता है। किंतु जैन दर्शन पृथ्वी आदि के परमाणुओं में मौलिक भेद नहीं मानता। वह सर्भ प्रकार के जड तत्त्वों में स्पर्श आदि चतुष्टयी की अवस्थिति को अनिवार्य मानता है।

न्याय-दर्शन में पांच महाभूतों में उक्त पुद्गल धर्मों के अस्तित्व को स्वीकार न करने का एक कारण यह भी है कि वह पांचभूतों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार वे स्वतंत्र द्रव्य नहीं अपितु पुद्गल द्रव्य ही हैं।

पुद्गल द्रव्य होने के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि और हवा इन सब में आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध और पांच वर्ण निश्चित रूप से विद्यमान हैं जैसे अग्नि में हमें सामान्यतः गंध की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि हमारी नासिका उसे ग्रहण नहीं करती। लेकिन गंध-वहन-प्रक्रिया से ज्ञात होता है कि अग्नि में भी गंध है। एक गंधवाहक यंत्र का आविष्कार हुआ है, जो मनुष्य की घ्राण शक्ति से कहीं अधिक संवेदनशील है। वह सौ गज की दूरी पर स्थित अग्नि के गंध तत्त्व को पकड़ लेता है।

पुद्गल द्रव्य स्वतंत्र द्रव्य है। द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय हो। गुण (Fundamental Reality) द्रव्य का अपरिवर्तनीय और स्थायी तत्त्व है। वह ध्रौव्य (Continuity) का प्रतीक है। वस्तु के अवस्था भेद या रूपांतर को पर्याय कहते हैं। प्रतिक्षण घटित होने वाला परिवर्तन उत्पाद और व्यय—पर्याय का प्रतीक है। जैसे, शहर के गढ़े नाले का पानी भी जल-शोधन की प्रक्रिया से स्फटिक-सा उजला हो जाता है, यह पर्याय परिवर्तन है, पर जल तत्त्व स्थायी है, यह ध्रौव्य है। पानी के रूप, रंग, स्वाद और गंध में परिवर्तन हो जाता है फिर भी वह स्पर्श, रस, गंध विहीन नहीं होता यह है पुद्गल द्रव्य का स्थायी भाव।

विज्ञान की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित है १. ठोस, २. द्रव, ३. गैस और ४. प्लाज्मा। यद्यपि आधुनिक विज्ञान ने १००० ऐसे तत्त्वों की खोज कर ली है, पर वे सब उक्त तानों में समाविष्ट हैं।

जाते हैं। ये तीनों तत्त्व सदा अपने-अपने वर्ग में ही रहें, यह जरूरी नहीं है, अपितु वे एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

ऑक्सीजन और हाइड्रोजन गैसों हैं, इन दोनों के मिलने से जल बन जाता है। जल वनस्पति में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार गैस द्रव्य ठोस पदार्थ में बदल जाता है। दूसरी बात, जल अग्निशामक होता है, आग को बुझा सकता है, लेकिन जल के उपादान—हाइड्रोजन मूलतः ज्वलनशील है और ऑक्सीजन गैस आग को उत्तेजित करने वाली है, तथापि ये दोनों गैसों एक निश्चित अनुपात में जब मिलती हैं तो दोनों के गुण-धर्म बदल जाते हैं। पानी आग को भड़काने की वजाय उसे बुझाने के काम आता है।

पुद्गल की नित्यता

पुद्गल द्रव्य चाहे कितना ही परिवर्तित हो जाए, उसकी मौलिकता कभी नष्ट नहीं होती। पुद्गल की मौलिकता है—स्पर्श, रस गंध और वर्ण। ये पुद्गल से एक समय के लिए भी पृथक् नहीं होते। मौलिकता रूपांतरित हो सकती है, पर स्पष्ट नहीं। पुद्गल द्रव्य की मौलिकता न किसी अन्य द्रव्य में परिवर्तित होती है और न किसी अन्य द्रव्य की मौलिकता पुद्गल द्रव्य में विलीन होती है। इसलिए जीव की भांति पुद्गल भी ध्रुव तत्त्व है। नित्य है। नित्य द्रव्य की पहचान है—जो कभी सद्यः में कम अधिक नहीं होता, जिसका न आदि हो, न अन्त। जो न किसी अन्य द्रव्य के रूप में परिवर्तित होता है और न किसी अन्य द्रव्य को अपने में परिवर्तित करता है।

विश्व में पुद्गल-परमाणु अनादिकाल से जितने थे, उतने ही हैं और अनन्तकाल तक उतने ही रहेंगे। पुद्गल का परिणमन होता है, पर वह होता है पुद्गल में ही। पुद्गल कभी जीव नहीं बनता और जीव कभी पुद्गल नहीं बनता। आधुनिक विज्ञान भी यही मानता है कि विश्व में स्थित पदार्थ और ऊर्जा की समुक्त राशि सदा शाश्वत रहती है। पदार्थ और ऊर्जा के रूपांतरण के बावजूद भी कुल राशि सदा अचल बनी रहती है। जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल द्रव्य अनन्त है। अनन्त परमाणुओं और अनन्त प्रदेशों (विस्तार के लिए देखें—विश्व प्रहेलिका पृ २११, १७१) स्वर्गों से विश्व भरा पटा है।

पुद्गल की अनित्यता

पुद्गल द्रव्य विश्व या एक महत्त्वपूर्ण घटक है। वह द्रव्य ही अपेक्षा निरम है, ध्रुव है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है। उसमें परिवर्तन की क्षमता निरन्तर चालू रहती है।

ईसा की उत्तरीसवीं सदी तक वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि भ्रूज

तत्त्व (element) अपरिवर्तनीय है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप में नहीं बदल सकता किन्तु अब तेजोद्गरण (रेडियो एकटीविटी) आदि के अनुसंधानों से सिद्ध हो चुका है कि तत्त्व परिवर्तित हो सकता है। जैसे यूरेनियम के एक अणु में से जब तीन “अ” कण-विच्छिन्न हो जाते हैं तो वह एक रेडियम अणु के रूप में बदल जाता है। इसी प्रकार जब रेडियम का एक अणु पांच “अ” कणों में विभाजित हो जाता है तो वह “सीसा” के अणु के रूप में बदल जाता है। यह है पुद्गल-परमाणुओं के विश्लेषण से होने वाला परिणाम। इसी प्रकार परमाणुओं के संश्लेष—संयोग से भी परिणाम होता है। जैसे नाइट्रोजन के एक अणु के न्यूक्लियस में जब एक “अ” कण मिल जाता है तो वह ऑक्सीजन का एक अणु बन जाता है।

सक्रियता और शक्ति

जीव की भाँति पुद्गल भी सक्रिय है और अनंत शक्ति-सम्पन्न है। पुद्गल की क्रिया को शास्त्रीय भाषा में परिस्पद कहते हैं। वह स्वतः भी होता है और अन्य पुद्गलों या जीव की प्रेरणा से भी होता है। पुद्गल की गति-क्रिया अप्रतिहत होती है। वह पहाड़ के आर-पार निकल सकता है। अणुओं का परस्पर टकराव और मिलन भी होता रहता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ से निरंतर रश्मियाँ या तरंगें निकलती रहती हैं। यह भी उसकी सक्रियता का प्रतीक है।

“टनेलिंग ऑफ इलेक्ट्रॉन्स” सिद्धांत के आधार पर एक नया तथ्य प्रकाश में आया है कि यदि दो वस्तुएँ परस्पर छू रही हों या बहुत आस-पास रखी हों तो एक वस्तु से दूसरी वस्तु में इलेक्ट्रॉन्स की उछल-कूद मचने लगती है। इसे वैज्ञानिकों ने “टनेलिंग फिनामिना” कहा है। जैसे मुम्बई या पूना के सपाट मैदानों में पर्वतीय सुरंग के माध्यम से रेल्वे का गमनागमन होता है। वैसे ही वस्तुगत अणुओं (इलेक्ट्रॉन्स) का गमनागमन होता है। यह सारा कार्य पुद्गल के मौलिक गुण गलन-मिलन के कारण होता है। भौतिक विज्ञान भी पदार्थ के इस स्वभाव को स्वीकृत करता है और उसके लिए दो शब्दों का प्रयोग करता है—Fusion और Fision पर्युजन का अर्थ है—“मिलना” और फिजन का अर्थ है—“गलना”।

विज्ञान के अनुसार प्रकाश की गति एक लाख छियासी हजार मील प्रति सैकेंड है। किंतु जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल की गति इससे भी तीव्र है। वह काल के सूक्ष्मतम अंश (एक समय) में लोक के एक छोर तक पहुँच सकता है।

पुद्गल अनंत शक्ति-सम्पन्न है। “आई” का शक्ति सिद्धांत भी इसका सवादी है। उसके अनुसार एक परमाणु से ३,४५,८०० केलोरी शक्ति

उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में एक परमाणु में कितनी शक्ति है, इसका विज्ञान अभी तक अंदाजा नहीं लगा पाया है। इस क्षेत्र में नित नये रहस्य खुलते जा रहे हैं। फिर भी पदार्थ की शक्ति के रूप में बदलने की संभावना के अनुसार कहा जाता है कि एक पाँड या ४५० ग्राम पदार्थ में इतनी शक्ति होती है, जितनी चौदह लाख टन कोयला जलाने पर मिलती है। यदि ऐसा संभव हो जाए तो ४५० ग्राम कोयले में पूरी अमेरिका के लिए एक माह तक चलने वाली बिजली तैयार हो सकती है।

पुद्गल में सकोच-विस्तार की अद्भुत शक्ति होती है। इसलिए सद्यत्त प्रदेशी लोकाकाश में अनंत प्रदेशी पुद्गलों के अनंत-अनंत स्कन्ध समाहित हो जाते हैं।

सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के कारण पुद्गल परमाणुओं और स्फन्धों में ऐसी सूक्ष्मतरंग परिणति होती है कि एक ही आकाश प्रदेश में अनंतानंत पुद्गल रह सकते हैं। जैसे एक कमरे में एक दीया जलाया जाता है तो उसका प्रकाश पूरे कमरे में फैल जाता है और यदि उसी कमरे में सौ दिये जला दिये जाते हैं तो वह शत गुणित प्रकाश भी उस कमरे में समाहित हो जाता है। उन प्रकाश-अणुओं को अतिरिक्त स्थान रोकने की अपेक्षा नहीं रहती। यह तथ्य विज्ञान-सम्मत भी है। डॉ० एडिंगटन के अभिमत से एक टन न्यूक्लियर-पुद्गल (न्यूक्लीयर मेटर) को सघन बनाया जाए तो वह हमारे वास्केट के जैव में समा सकता है।

इन सब अध्ययनों के सदृश से ज्ञात होता है कि जैन दर्शन का समस्त पुद्गल और परमाणु सिद्धांत कितना वैज्ञानिक है। एक विज्ञान के विद्यार्थी को दोनों में बद्नुत समानता का दर्शन होते हैं।

जैन दर्शन में प्रतिपादित पुद्गल द्रव्य को समग्रता में समझ लेने के पश्चात् ही आधुनिक विद्वानों की धारणा पुष्ट हुई है कि आधुनिक विज्ञान का प्रथम जन्मदाता भगवान् महावीर ही थे।

सदृश

- १ जैन सिद्धान्त शोधिका।
- २ एजारीमल स्मृति ग्रन्थ-लेख—“दर्शन व विज्ञान के क्षेत्र में पुद्गल द्रव्य।”
- ३ श्री पुष्प-मुनि लभिनन्दन ग्रन्थ लेख—जैन दर्शन स्वल्प और विश्लेषण (श्री देवेन्द्र मुनि धाम्नी)
- ४ विश्व प्रहेलिका, लोख-द्रव्य।

जैनदर्शन में आत्मवाद

आत्म विद्या : परम विद्या

उपनिषद् में उद्दालक और श्वेतकेतु का एक मार्मिक दृष्टांत है । श्वेतकेतु गुरुकुल से सपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर आया । प्रतिभा सपन्न था । गुरु-कुल की सब परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की । अनेक स्वर्णपदक प्राप्त किए होंगे । यौवन की उष्मा । सिर पर ज्ञान-राशि का गोवर्धन पर्वत । अकडना स्वाभाविक था । पिता के चरणों में प्रणत नहीं हो सका । सीधा खड़ा रहा । पिता ने देखा । सोचा—इतना पढ-लिख कर भी अज्ञानी का अज्ञानी आ गया । पिता निराश हुए । पुत्र पर प्रसन्नता का प्रसाद नहीं वरसा । गभीर मुद्रा में पूछा—गुरुकुल में क्या-क्या पढा ? पुत्र ने पठित विषयों की लम्बी सूची प्रस्तुत कर दी । ऋषि ने वत्सलभाव से पूछा—वत्स, ऐसी कोई चीज पढ़ी है, जिसको जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है । श्वेतकेतु का मुख श्वेत हो गया । वह बोला—ऐसा तो हमारे अभ्यासक्रम में किसी ने नहीं सिखाया । उद्दालक ने पुनः प्रश्न किया—आत्मा को जाना ? आत्मा को पहचाना ? उसने नकारात्मक सिर हिलाया । ऋषि ने कहा—पुत्र, आत्मविद्या वह परम विद्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है । आत्मज्ञान के अभाव में सब कुछ जानकर भी व्यक्ति अज्ञानी रह जाता है ।

काल की लम्बी अवधि में न जाने ऐसे कितने श्वेतकेतु हो चुके हैं और वर्तमान में भी कितने हैं, जो विभिन्न विद्या-शाखाओं में पारगामिता प्राप्त कर के भी आत्मा के सम्बन्ध में अनजान हैं । स्वयं से अपरिचित हैं । तत्त्वबोध की यात्रा का आदि बिन्दु है—आत्मा । भगवान् महावीर ने भी कहा—“जे एग जाणइ से सब्ब जाणइ” जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है ।

हम और हमारा अस्तित्व

हमारा अस्तित्व दो तत्त्वों का संयोग है । एक है चेतन—जीव, दूसरा है अचेतन—शरीर । कुछ लोग केवल शरीर को ही मानते हैं । वे चेतन या आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते । वे अनात्मवादी हैं । आत्म-वादी दर्शन आत्मा और शरीर को भिन्न मानता है और चेतन के स्वतंत्र

अस्तित्व को स्वीकार करता है।

उमके आधार पर भारतीय चिंतन दो धाराओं में विभक्त हो गया। एक धारा का नाम है, क्रियावाद और दूसरी का नाम है अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष पर विश्वास करने वाले क्रियावादी तथा इन पर विश्वास न करने वाले अक्रियावादी कहलाए।

क्रियावादी वर्ग ने समयपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया। क्योंकि उमके अभिमत से आत्मा का अस्तित्व है। वह अपने सुकृत और दुष्कृत का फल भोगती है। शुभ-कर्मों का अच्छा और अशुभ कर्मों का बुरा फल होता है। आत्मा का पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होता है। वह अपने पुण्य और पाप कर्मों के साथ ही परलोक में जाती है। पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष होता है। इस चिंतन के आधार पर लोगों में धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई। अल्प-इच्छा, अल्प-आरम्भ और अल्प परिग्रह का महत्व बढ़ा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उपासना करने वाला महान् गमम्हा जाने लगा। समाज में समय और त्याग की प्रतिष्ठा हुई।

अक्रियावादी वर्ग ने सुख-पूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ माना। उमके अभिमत ने सुकृत और दुष्कृत का शुभ और अशुभ फल नहीं होता। आत्मा शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाती है। वह परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होती। अक्रियावाद का घोष रहा—जो काम-भोग प्राप्त है, उनको जी भर कर भोगो, फल का क्या भरोसा ? परलोक है या नहीं, बिताने देखा है ? इस विचार-धारा के प्रभाव ने लोगों में भौतिक लालसा प्रचल हुई। महा-इच्छा, महा-आरम्भ और महा-परिग्रह का राहु जगत् पर रसा गया।

क्रियावाद ने नत्व-प्रतिपादन का मुख्य आधार रहा—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। उन्होंने कहा—आत्मा ने अस्तित्व में सदेह मत करो। आत्मा जन्म है इसलिए इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। पर इन्द्रिय-ग्राह्य न होने मात्र ने उसके स्वतंत्र अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। इन्द्रिया जन्मते पदार्थ को नहीं जान सकती, फिर भी चैतन्य के व्यापार के आधार पर उमके अस्तित्व का घोष होता है। (उत्तरजम्भशपाणि)

इसके विपरीत अक्रियावाद का विनाश इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पर रहा। उमके अभिमत से यह बात इनका ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है। आत्मा दृष्टि का विषय नहीं है, इसलिए उमके अस्तित्व में सदेह है। इस उक्त में वेदों, पृथ्वी पानी अग्नि वायु और आकाश—ये पांच महाभूत ही शक्यता है। इन्के समुदाय से चैतन्य जपवा आत्मा उत्पन्न होती है। भूतों का नाश हो जाने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

जीवात्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार अरणि की लकड़ी से आग, दूध से घी और तिलो से तेल उत्पन्न होता है, वैसे ही पचभूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रहती।

आचार-व्यवहार पर विचार का प्रभाव

ये दो विचार-धाराएँ हैं जो प्राचीनकाल से ही मानव-जीवन के विचार और आचार पक्ष को प्रभावित करती रही हैं। इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक जीवन की नींव इन्हीं पर खड़ी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक जैसा नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का ध्यान रहेगा। अक्रियावादी उसकी चिन्ता नहीं करेगा। जहाँ आत्मवादी की गति त्याग की ओर होगी वहाँ अक्रियावादी की गति होगी भोग की ओर।

क्रियावादी और अक्रियावादी वर्गों को आज की भाषा में आस्तिक और नास्तिक कहा जाता है। इस विचार धारा का प्राचीन प्रतिनिधि चार्वाक-दर्शन था। आधुनिक कम्युनिज्म को उसी का विकसित रूप माना जा सकता है।

जैन-धर्म आस्तिक दर्शनों में एक है। वह आत्मवाद, कर्मवाद, पर-लोकवाद और निर्वाणवाद का पुरस्कर्ता है।

आत्मा क्या है

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में जीव, जीव के गुण और जीव की क्रियाएँ—इन सबको आत्मा कहते हैं। आत्मा एक चेतनावान पदार्थ है। उसका लक्षण है—उपयोग। उपयोग का अर्थ है—चेतना का व्यापार। आत्म तत्व की पहचान का आधार है उसकी ज्ञान-दर्शन में परिणति तथा सुख-दुःख की अनुभूति। आत्मा जड़ पदार्थ से उत्पन्न नहीं है। वह चैतन्य गुणयुक्त स्वतन्त्र सत्ता है।

प्रश्न होता है, आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं है, फिर उन्हें क्यों माना जाए? इसके समाधान में कहा गया कि पदार्थों को जानने का माध्यम मात्र इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इन्द्रिय और मन की शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे सब कुछ नहीं जाना जा सकता। इन्द्रिया मात्र स्पर्श, रस, गंध और वर्ण को जान सकती हैं। मन भी इन्द्रियों का अनुगामी है। आत्मा अरूपी सत्ता है। वह स्पर्श, रस-गंध और वर्ण नहीं है। शब्दों का प्रयोग करने वाला, गंध का

अनुभव करने वाला, स्वयं और रस का ज्ञान करने वाला तत्त्व आत्मा है। किन्तु यह भौतिक उपकरणों के द्वारा जाना नहीं जाता। (आधारों)

विज्ञान और आत्मा

प्राचीन समय में ही मानव-मन में आत्मा को जानने की प्रबल इच्छा रही है। उपनख नाघन-गामत्री द्वारा उमकी चोजे हुई हैं। प्रयोग और परीक्षण भी हुए हैं। आज में अठ्ठाई हजार वर्ष पहले कौशांबी में शक्ति शाली तपेश प्रदेसी ने अपने जीवन के नास्मिक जाल में शारीरिक अवयवों के विश्लेषण एवं परीक्षण द्वारा आत्म-प्रत्यधीकरण में अनेक प्रयोग किए थे। पर यह आत्मा को जानने-देखने में नक्ष्य में सर्वथा असफल रहा। आधुनिक वैज्ञानिक भी आत्मा को सिद्ध करने में सफल नहीं हुए हैं। उन्होंने १०३ तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्त (स्वी) हैं। वैज्ञानिकों ने जिनने प्रयोग किए हैं, मूर्त द्रव्यों पर ही किए हैं। फिर भी वे आत्मा में अस्मिन्त्व के बारे में विदु मय नहीं पहुँच पाए हैं। इसका कारण यही है, भौतिक उपकरणों तथा इंद्रियों के द्वारा भौतिक पदार्थों का बोध-विश्लेषण किया जा सकता है, पर अधौतिक, अमूर्त आत्मा का ज्ञान उनमें नहीं हो सकता। उसके लिए इंद्रिया-तीत चेतना का जागरण आवश्यक है। आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिपट्ट में नक्ष्य मर ओनिया नॉज ने लिखा—“ हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पठार पर पारभौतिक विषयों को नहीं भूत जाना चाहिए। ” उन्होंने आगे लिखा “चित्त जट का कोई गुण नहीं है। किन्तु उम समार्ड हुई, स्वयं को प्रदर्शित करने वाली स्वतन्त्र सत्ता है। प्राणी मात्र ही ज्ञान एत ऐसी वस्तु है जिसका शरीर के मास में मास अन्न नहीं हो जाता। ” यह विचार जैन-दर्शन का महान विराट है।

आत्मा और शरीर

मक तत्त्व कोई दूसरा है जो अदृश्य है। शरीर के सो जाने पर भी वह शक्ति नहीं सोती। वह सतत जागृत तत्त्व 'चेतना' ही है। उस अदृश्य चेतन तत्त्व की सत्ता सर्वत्र काम कर रही है। पाच-छ फुट के इस छोटे-से शरीर में जो स्वचालित क्रियाएँ हो रही हैं वे इस अदृश्य की ही सूचना दे रही हैं। वैज्ञानिक कहते हैं—“यदि इस शरीर का निर्माण हमें करना पड़े तो कम-से-कम दस वर्ग मील में एक कारखाना बनाना पड़े।

महान् दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञ आत्मा के अस्तित्व को बहुत ही सरल शैली में समझाते हैं। वे कहते हैं—“हमारे स्थूल शरीर में एक सूक्ष्म शरीर है, उसका नाम है तैजस शरीर। उसके भीतर सूक्ष्मतर शरीर है, उसका नाम है कर्म शरीर। उसके भीतर आत्मा है वह हमारे आचार, विचार और व्यवहार का संचालन करता है, नियमन करता है। चेतना की रश्मियाँ कर्म और तैजस शरीर की दीवारों को पार कर स्थूल शरीर तक पहुँचती हैं। उससे हमारा ज्ञान-तन्त्र, भाषा-तन्त्र और क्रिया-तन्त्र सक्रिय होता है। उसी के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है।” इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा हमारे प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी उसके गुण-धर्म प्रत्यक्ष हैं। यही आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि का पुष्ट प्रमाण है।

जैन-दर्शन में आत्मा

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी—विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला कर्त्ता और भोक्ता है। वह स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करता है और उनका फल भोगता है।

आत्मा का कोई आकार-प्रत्याकार नहीं होता। वह न हल्का है, न भारी, न स्त्री है, न पुरुष। ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का समूह है।

आत्मा एक द्रव्य है, वह चैतन्य का अजस्र स्रोत है। उसके अनेक गुण-धर्म हैं। उनमें दो प्रमुख हैं—गुण और पर्याय। कुछ वस्तु धर्म ऐसे होते हैं जो सदा अमुक द्रव्य के साथ रहते हैं, बदलते नहीं, वे गुण कहलाते हैं। परिवर्तनशील धर्म पर्याय कहलाते हैं। गुण और पर्याय की दृष्टि से आत्मा के मुख्य दो भेद होते हैं—द्रव्य आत्मा और भाव आत्मा।

द्रव्य आत्मा एक है। वह चेतना-मय असंख्य अविभाज्य अवयवों का समूह है। यानी आत्मा असंख्य प्रदेशी है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक, दो तीन प्रदेशी जीव नहीं होते। असंख्य प्रदेशों के समुदाय का नाम ही जीव या आत्मा है।

द्रव्य आत्मा त्रैकालिक तत्त्व है। वह अजर-अमर है। वह न कभी जन्मता है, न मरता है। उसका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। अतीत

में उसका अस्तित्व था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। आत्मा कभी अनात्मा (जड़) नहीं होती। मरीर के छूट जाने पर भी मृत्यु नहीं हाती। यह अजन्मा है, नित्य है, माशुवा है।

द्रव्य की दृष्टि में माशुवात और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय की दृष्टि में आत्मा परिवर्तनशील और अनेक हो जाती है। यह परिवर्तनशीलता ही भाव आत्मा है। द्रव्य और भाव की विवक्षा में आत्मा के आठ भेद हो जाते हैं, जैसे—चेतना या शुद्ध स्वरूप द्रव्य आत्मा है। श्रेय, मान, माया और मोक्ष में रजित होने पर यह कषाय आत्मा बन जाती है। आत्मा की पचनता, प्रवृत्ति योग आत्मा है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप में व्यापृत होना उपयोग आत्मा है। शाशात्मक और दशनात्मक चेतना ज्ञान-आत्मा और दर्शन-आत्मा है। आत्मा की त्रिगुणित मयमय अवस्था चरित्र आत्मा है। आत्मा की शक्ति शीघ्र आत्मा है। ये आठ आत्माएँ नापेक्ष दृष्टि में बताई गई हैं। पास्तन में आत्मा की जिनती पर्यायों—अवस्थाएँ हैं, वे मय भाव आत्मा हैं। एम दृष्टि में आत्मा अनन्त हो सकती है। सैद्धांतिक भाषा में इन आठ आत्माओं के अतिरिक्त आत्मा की सभी अवस्थाओं को अन्य (अनेरी) आत्मा कहा जाता है।

अन-दर्शन के अनुसार समारी आत्मा राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति के कारण कर्मों या बंधन रहती है। कर्मबद्ध जीव नाना योनियों में परिभ्रमण करता हुआ, कर्मनिम्नर गुण-दुःख का नवेदन करता है। राग-द्वेष तो क्षीण कर आत्मा कर्म-मुक्त हो जाती है। मुक्त आत्मा निर्वाण को प्राप्त कर आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। मुक्त आत्माएँ आनन्द हैं। उन सब का स्वतन्त्र अस्तित्व है। ये पुनः भय-भ्रमण नहीं करती। आत्मदादी दर्शनों का परम श्रेय मोक्ष-प्राप्ति ही है।

इसे हम मर्यादों को भी नहीं भूल जाना है कि शास्त्रीय प्रमाणों जयदा भाषा में आत्मन के आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। उनमें किए आत्म-विद्या और आत्मन में प्रवेश करने की आवश्यकता है। आत्मा की श्रेय आत्मा में ही होती है। प्राणोपनिषद् में कहा है "इयं इत्यर्थे और विद्या में आत्मा की श्रेय करो।" आत्मा महावीर ने कहा -- 'सर्विद्वान् आत्मनोऽप्यनुभवः—अहम्भावात् आत्मा का देहो। आत्मा के परमात्मा की निष्ठा में प्रस्थान करने के लिए, आत्मा के प्रति श्रेय आत्म-दक्षिण और आत्मन का अनुभव अदेहित है।

संदर्भ -

- | | |
|----------------------|--------------------------------|
| १. कठोपनिषद्। | २. उत्तरजन्मव्याप्ति। |
| ३. आचार्यो। | ४. अंत-ज्ञान मन्त्र और योनिगा। |
| ५. अंत-ज्ञान-विद्या। | |

जैन-धर्म में कर्मवाद

भगवान् श्री महावीर ने कहा—“जो व्यक्ति सब भूतो को अपने समान समझता है, सब प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है, आस्रवो का निरोध करता है और अपना निग्रह करता है, वह पाप कर्मों का बन्ध नहीं करता (दसवेआलिय ४/९)। इससे दो बातें फलित होती हैं—सब आत्माओं की समानता और कर्मों का बन्ध।

आत्म-समानता और आत्म-एकत्व के स्वर जैन आगमो में प्रचुर मात्रा में मुखरित हुए हैं। जैसे “तू जिसे मारना चाहता है, वह तू ही है। कोई प्राणी हीन नहीं है, अतिरिक्त नहीं है। न कोई छोटा है, न कोई बड़ा—इत्यादि।” (आयारो)

इसके विपरित हम यह भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि सब जीव समान नहीं हैं। कोई एक इन्द्रिय वाला प्राणी है तो कोई पांच इन्द्रिय वाला। कोई समनस्क—सन्धी है तो कोई अमनस्क—असन्धी। एक बहुत विकसित है तो दूसरा कम विकसित। एक बुद्धिमान है तो दूसरा मूढ़। एक सच्चरित्र है तो दूसरा दुश्चरित्र। एक स्वस्थ है तो दूसरा अस्वस्थ। एक सुन्दर, सुप्रतिष्ठित और यशस्वी है तो दूसरा कुरूप, तिरस्कृत तथा निन्दनीय। एक सामर्थ्यवान है तो दूसरा असमर्थ। यह असमानता क्यों? इसका समाधान दिया गया कि निश्चय नय से सब जीवन समान होते हुए भी व्यवहार नय से वे भिन्न भी हैं।

प्रत्येक आत्मा की समानता स्वभावगत है। स्वरूप की दृष्टि से, अस्तित्व की दृष्टि से सब आत्माएँ समान हैं।

आत्माओं की विविधता का हेतु कर्म है। प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही बनता है। हीन कर्म प्राणी को हीन बनाता है। श्रेष्ठ कर्म प्राणी को श्रेष्ठ बनाता है।

भगवती सूत्र में एक सवाद है—गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—“भते! यह विभक्ति कहा से हो रही है? यह भेद, विभाजन, अलगाव कहा से हो रहा है? भगवान् ने कहा—गौतम! यह सारी विभक्ति कर्म के द्वारा हो रही है। सारी भेद-रेखाएँ कर्म के द्वारा खींची जा रही हैं।”

वैद्व-धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ “अभिधम्मकोश” में लिखा है—“कर्मज लोकवैचित्र्य—लोक की विचित्रता कर्म के द्वारा होती है।”

प्रश्न होता है कि कर्म क्या है? वह आत्मा को प्रभावित कैसे करता

३. कर्म-परमाणु चतुःस्पर्शी होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं।

४. कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत हो सकते हैं। हर कोई पुद्गल कर्म नहीं बन सकता। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। कर्म जीवात्मा के आवरण, परतत्रता और दुःखो का हेतु है।

कर्म-परमाणु अपने आप प्राणी के साथ संबन्ध स्थापित नहीं करते। जीव अपनी शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा उन अनन्त प्रदेशी कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करता है। अपने साथ सम्बन्ध स्थापित करता है और वह संबन्ध बहुत गहरा हो जाता है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म-परमाणु-स्कन्ध जुड़ जाते हैं। परस्पर एकमेक हो जाते हैं। यही है कर्म-बन्ध। यद्यपि कामण वर्गणा के पुद्गल पूरे लोकाकाश में व्याप्त हैं, किन्तु आत्मा के साथ कर्म रूप में वे ही बधते हैं जो आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाढ होते हैं।

बन्धन की अपेक्षा आत्मा और कर्म अभिन्न हैं। एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा भिन्न हैं। जीव चेतन है, कर्म अचेतन है। जीव अमूर्त है, कर्म मूर्त है।

अमूर्त आत्मा को मूर्त कर्म-पुद्गल प्रभावित करते हैं। जैसे—वेड़ी से मनुष्य बन्धता है, शराब से पागल बनता है। क्लोरोफार्म से बेहोश हो जाता है, वैसे ही कर्मों के संयोग से जीवात्मा की इस प्रकार की दशाएँ होती हैं। बाहरी निमित्तों का प्रभाव अल्पकालीन होता है। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा विशेष सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इसलिए उनका जीवन पर गहरा और आंतरिक प्रभाव पड़ता है।

बन्ध के प्रकार —

बन्ध के सामान्यतः चार प्रकार बताए गए हैं—

प्रदेश बन्ध—आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का जुड़ना। यह एकीभाव की व्यवस्था है।

प्रकृति बन्ध—स्वभाव का निर्माण या निर्धारण करना कि अमुक कर्म-पुद्गल आत्मा के कौन-से गुण का आवारक, विकारक या विघातक बनेगा? यह है स्वभाव व्यवस्था।

स्थिति बन्ध—कौन-सा कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ रहेगा और कब अपना विपाक-फल देगा, यह है स्थिति का निर्धारण। अर्थात् काल-मर्यादा की व्यवस्था।

अनुभाग बन्ध—कर्म किस प्रकार का फल देगा? आत्मा को मद् रूप से प्रभावित करेगा या तीव्र रूप से, यह अनुभाग बन्ध का काम है। यह है फलदान शक्ति की व्यवस्था।

होता है। शुभ नाम कर्म के उदय से व्यक्ति सुन्दर, आदेय-वचन, यशस्वी और आकर्षक व्यक्तित्व-सपन्न होता है। अशुभ नाम कर्म के उदय का परिणाम ठीक इसके विपरीत होता है।

जो कर्म-पुद्गल जाति, कुल, बल, श्रुत, ऐश्वर्य आदि की दृष्टि से व्यक्ति की विशिष्टता और हीनता के हेतु बनते हैं—वह गोत्र-कर्म है। यह भी दोनो प्रकार का है।

व्यक्ति की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता, सम्मान-असम्मान—ये सब नाम और गोत्र कर्म के कारण होते हैं। इनके क्षय से पूर्णता-अगुरुलघुता प्राप्त होती है। आत्मा अपने नैसर्गिक रूप में स्थित होती है।

जो कर्म-पुद्गल अमुक समय तक अमुक प्रकार के जीवन के निमित्त बनते हैं वह आयुष्य कर्म है। शुभ और अशुभ आयुष्य सुखी और दुःखी जीवन का निमित्त बनता है। इससे देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक-आयु प्राप्त होती है। आयुष्य कर्म के क्षय से आत्मा अमर और अजन्मा बनती है।

कर्म की अवस्थाएं

कर्म की मुख्यतया तीन अवस्थाएं हैं—

१ बध्यमान—जीवात्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध, सश्लेष होता है, वह बद्ध अवस्था है।

२ सत्ता—कर्म बन्ध होते ही उसका परिणाम चालू नहीं होता, कुछ समय के लिए उनका परिपाक होता है। यह परिपाक-काल “सत्ता” है। सत् अवस्था है।

३ उदीयमान—परिपाक के पश्चात् प्राणी को सुख-दुःख रूप या आवरण रूप फल मिलता है। यह कर्म की उदीयमान (उदय) अवस्था है।

अन्य दर्शनो में कर्म की क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं मानी गई हैं, जो उक्त तीनों अवस्थाओं की समानार्थक हैं।

वास्तव में “कर्मवाद” जैन-दर्शन का बहुत बड़ा मनोविज्ञान है। कर्म-शास्त्र के अध्ययन के बिना न मन का समग्रता से विश्लेषण हो सकता है, न व्यक्तित्व का। बहुत विशाल और सूक्ष्म है कर्म का जगत्। कर्म-परमाणुओं से हमारी असंख्य दुनिया भर सकती है। उनके सामने हमारे स्थूल शरीर की रचना करने वाली छह सौ खरब कोशिकाएं कुछ भी नहीं हैं। इस शरीर में प्रति सैकण्ड पाच करोड़ कोशिकाएं तथा प्रति मिनट तीन अरब कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। कितने रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं। यह स्थूल शरीर की बात है। हमारा कर्म शरीर बहुत सूक्ष्म है। सब कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियां स्वत

करने वाला एक आंतरिक नियम है। आंतरिक व्यवस्था है। जो कर्मवाद को नहीं जानता, वह धर्म को भी नहीं जानता। जो चेतना और कर्म की व्याख्या नहीं कर सकता, वह धर्म की व्याख्या नहीं कर सकता। धर्म है अन्तर-जगत् में प्रवेश। वहाँ जाने के लिए उन नियमों को भी जानना आवश्यक है। जो आत्मा को बाध रहा है, वह है कर्म। कर्म-बन्ध और उसके विपाक को समझने वाला व्यक्ति सहज ही अपने आपको कर्म-बन्धन के निमित्तों से बचा सकता है।

होता है। प्राचीन भारत में यह "हाडी"—भोजन-पकाने के पात्र अर्थ में प्रयुक्त होता था। जैसे—स्थाली पुलाक न्याय। स्थाली का ही अपभ्रंश थाली है।

दक्षिण भारत में सुहाग का प्रमुख चिह्न है थाली। "मागत्यम्-थाली" यानी पीले धागेवाली सुनहरी पैडिल—जो विवाह-मंडप में पिता वधू के गले में मंगल-सूत्र की भाँति पहनाता है।

हम जिस क्रिया का प्रयोजन समझते हैं, उसके सिवाय भी उस क्रिया के अगणित प्रयोजन हो सकते हैं। हमने जिस वस्तु को जिस रूप में जाना, समझा है, उसके अतिरिक्त भी उसे समझने के अनेक कोण हो सकते हैं। हमारे ज्ञात अर्थ के सिवाय उसकी अनेक ज्ञेय पर्यायें हो सकती हैं। जिस घटना की हमें जो प्रतीति होती है, उसके सिवाय उसमें अनेक प्रतीतियाँ अंतर्गर्भित हो सकती हैं। अनेकान्त दृष्टि से ही इन सबमें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। समाधान खोजा जा सकता है।

जैन-दर्शन के अनुसार ससार में अनंत जीव हैं। वे अनंत स्वभाव के हैं। अनंत वस्तुएँ हैं। उनके अनंत पर्याय हैं, अनंत परमाणु हैं और अनंत परिणमन हैं।

अनंत जीव, अनंत दृश्य पदार्थ और अनन्त परिणमन—यही जागतिक सत्य है। सत्य का स्वरूप सापेक्ष है। अपेक्षा-दृष्टि से देखने पर भी गुण-धर्म सत्य है। निरपेक्ष कुछ भी नहीं है। इस सापेक्ष विचार-शैली का नाम ही अनेकान्त है।

भगवान् महावीर ने सत्य की उपलब्धि के लिए एक अलौकिक दर्शन प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा—वस्तु का एक धर्म ही सत्य नहीं है, उसके सभी धर्म सत्य हैं। एक दृष्टिकोण से वस्तु का एक धर्म जितना सत्य है, दूसरी दृष्टि से उसका दूसरा धर्म भी उतना ही सत्य है। इस प्रकार अपेक्षा-भेद से यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तु अनंत धर्मात्मक है।

भगवान् महावीर ने भारतीय दर्शन के मौलिक तत्त्वों—आत्मा, शरीर पदार्थ, पुद्गल, परमाणु, लोक, बध्न और मुक्ति का प्रतिपादन अनेकान्त की शैली में किया है। पदार्थ के विभिन्न गुण-धर्मों का विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषण कर उन्होंने विराट् सत्य की प्रस्तुति दी है।

जैन-दर्शन के अनुसार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थों के स्वरूप-निर्णय के परिप्रेक्ष्य में उसे कम-से-कम चार दृष्टियों से परखना नितान्त अपेक्षित है। वे दृष्टियाँ हैं—(१) द्रव्य-दृष्टि, (२) क्षेत्र-दृष्टि, (३) काल-दृष्टि (४) भाव-दृष्टि। यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझ लेना भी जरूरी है—

द्रव्य—गुण समुदाय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का अर्थ है वस्तु।

व्यवस्था कैसे चलेगी ? जीवन-क्रम कैसे चलेगा ? इसका उत्तर है कि अनेकात मे इस विरोध के परिहार का मार्ग भी उपलब्ध है। उसका एक सूत्र है—सर्वथा विरोध और सर्वथा अविरोध जैसा दुनिया मे कुछ भी नहीं है। जहा विरोध है वहा अविरोध भी है। विरोध और अविरोध को कभी कम नहीं किया जा सकता। यह विश्व सप्रतिपक्ष है। प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का अस्तित्व सभव नहीं। हमारा जीवन द्वन्द्वात्मक है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, मान-अपमान—ये सब सापेक्ष हैं। इनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, इनके विरोध-परिहार का उपाय है— सापेक्षता।

हमारे शरीर मे दो परस्पर विरोधी प्राण धाराए प्रवाहित हैं— नेगेटिव और पोजिटिव। चन्द्रनाडी और सूर्यनाडी। पर क्या ये सर्वथा विरोधी हैं ? सचाई यह है कि एक के बिना दूसरी का भी अस्तित्व सुरक्षित नहीं रहता। अकेली चन्द्रनाडी या अकेली सूर्यनाडी हमारे जीवन को सुरक्षित नहीं रख सकती। हमारे शरीर को सक्रिय नहीं रख सकती। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्रियाओ का संचालन नहीं कर सकती।

हमारे जीवन का एक आधार है प्राण वायु और अपान वायु। ये परस्पर विरोधी है फिर भी दोनो का सापेक्ष मूल्य है। जीवन के लिए दोनो की अनिवार्यता है।

हमारे शरीर मे अनेक प्रकार की ग्रन्थिया है। सबके अलग-अलग भाव हैं। अलग-अलग कार्य हैं फिर भी सब एक दूसरे के पूरक है। परस्पर सामजस्य है। जब तक सामजस्य पूर्वक ग्रन्थि-तंत्र काम करता है, तब तक शारीरिक स्थिति ठीक रहती है। सामजस्य टूटा कि सब गडबडा जाएगा। सतुलन विरोधो के मध्य सेतु है। सतुलन का आधार है अनेकात दृष्टि। अनेकात सापेक्ष सत्यो की स्वीकृति है। अपेक्षा भेद से ही हम शाश्वत और सामयिक सत्य को अपनी-अपनी भूमिका मे स्वीकृति या अस्वीकृति देते हैं।

विरोधी युगलो मे सगति स्थापित करने का आधार है विवक्षा-भेद। जिस समय मे पदार्थ के जिस गुण-धर्म की विवक्षा होती है, वह प्रधान हो जाता है और शेष सारे धर्म गौण रूप से उस पदार्थ के अन्तर्हित हो जाते हैं। ऐसा किए बिना प्रत्येक पदार्थ हमारे लिए अनुपयोगी या अप्रासंगिक हो जाता है।

गति की सामान्य प्रक्रिया है कि एक पैर आगे रहे और एक पैर पीछे रहे। यदि दोनो पैर आगे या बराबर रहने का आग्रह करे तो गतिक्रिया नहीं हो सकती। विलौना करते समय मथनी की रस्सी को थामने वाले दोनो हाथ क्रमश आगे पीछे होते रहते हैं। तभी मथन होता है। नवनीत निकलता है। वस्तु के एक धर्म की प्रधानता और शेष समस्त धर्मों की अप्रधानता अनेकात का व्यावहारिक रूप है।

पर भी विचार कर लें ।

अनेकान्त वस्तु का स्वभाव है । सर्वज्ञो के अनतज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति है ।

अनत धर्मात्मक वस्तु का कथन बिना दृष्टि-बिन्दुओ के सभव नहीं । वस्तु के अनत धर्मों के प्रतिपादन की क्षमता भी भाषा जगत् के किसी भी शब्द में नहीं है । अत 'स्यात्' शब्द के माध्यम से सत्य को सापेक्ष प्रतिपादित करने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है ।

अनेकान्त सापेक्ष जीवन-शैली है और स्याद्वाद प्रतिपादन की पद्धति । अनेकात दर्शन है, उसका व्यक्त रूप स्याद्वाद है । वास्तव में देखा जाए तो अनेकात और स्याद्वाद आपस में गहरे जुड़े हुए हैं । जुड़वा बच्चों की तरह, एक दूसरे के पूरक ।

अनेकात के बिना स्याद्वाद का जन्म नहीं, स्याद्वाद के बिना अनेकात हमारे लिये उपयोगी नहीं । अनेकात को उजागर करने वाला स्याद्वाद ही है ।

अपेक्षा है अनेकातवाद और स्याद्वाद—इन दोनों का ही वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जाए और मानवीय व्यवहार के साथ इस महान् दर्शन को जोड़कर जागतिक स्तर पर समन्वय और सह-अस्तित्व को प्रतिष्ठित किया जाए ।

क्योंकि उसमें कार्यशील पुद्गल परमाणु सपूर्णतः नष्ट नहीं होते। दीपक के तेल और वाती जलते हैं, वे धूम तथा गैस में परिणत हो जाते हैं, अतः उनका स्वरूप परिवर्तन अवश्य होता है, पर विलयन नहीं।

आकाश, जो साधारणतया नित्य प्रतीत होता है, वह भी कथंचित अनित्य भी है। उन्मुक्त आकाश जब घेरे में बन्द हो जाता है तो उसकी अवस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ही अनित्यता का सूचक है। यह निश्चित है कि स्थायित्व के बिना परिवर्तन आधारशून्य है और परिवर्तन के बिना स्थायित्व मूल्यहीन। कोई भी पदार्थ स्थायित्व और परिवर्तन की रेखा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। आम को निचोड़कर रस बना लिया गया। हमारी आंखों के सामने अब वह आम का फल नहीं है। रस, जो पहले दृष्टिगोचर नहीं था, हमारे सामने है, पर उसमें आमत्व वही है। उसे हम नारंगी का रस नहीं कहेंगे।

जहां तक चिन्तन और मान्यता का प्रश्न है, अनेकान्त दृष्टि हमारा पथ प्रशस्त कर देती है। पदार्थ अनन्त हैं और उन्हें जानने के लिए दृष्टिया भी अनन्त हैं। पर अभिव्यक्ति का साधन तो एक भाषा ही है। वह भी इतनी लचीली और दुर्बल कि उसके द्वारा हम एक क्षण में वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। इसका अर्थ होता है— एक वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए अनन्त शब्द चाहिए। और वैसे अनन्त-अनन्त पदार्थों के लिए अनन्त-अनन्त शब्द चाहिए। उनके लिए जीवन भी अनन्त चाहिए, पर यह संभव नहीं। अतः हम इस निष्कर्ष तक पहुंचते हैं कि भाषा के सहारे हम न तो वस्तु का संपूर्ण परिज्ञान ही कर सकते हैं और न ही अभिव्यक्ति। नेकिन जैन तीर्थंकरों ने भाषा के भंडार को एक ऐसा रत्न प्रदान किया, जिसके प्रभा-मंडल से समूचा भाषा-भंडार जगमगा उठा। वह शब्द रत्न है 'स्यात्'। यह इतना सक्षम है कि जिस वस्तु के साथ इसे जोड़ दिया जाए, उस वस्तु के ममय रूप को अभिव्यक्त करने का अपना दायित्व वह बहुत ही जागरूकता में निभाता है। यह भाषा-जगत् का प्राण है। इसके अभाव में भाषा अपने दायित्व का निर्वाह कर ही नहीं पाती। यह अखंड सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। यह एक ऐसा दर्पण है, जिसमें वस्तु के सभी रूप एक साथ प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। यह वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्यतया प्रतिपादन करना हुआ भी उसके शेष अनन्त धर्मों को आंखों में ओझल नहीं कर सकता।

गणार्थश्री तुम्ही ने श्री "भिक्षु न्यायकणिका" में स्याद्वाद की मर्यादा और मुगम परिभाषा देने हुए लिखा है—

अप्रज्ञानपंचाम्यामनेकान्तात्मकार्यप्रतिपादनपद्धतिः स्याद्वाद ।

एतेन दर्शानेन वस्तु का एक ममय में, एक धर्म की प्रज्ञानता—

क्योंकि उसमें कार्यशील पुद्गल परमाणु सपूर्णत नष्ट नहीं होते। दीपक के तेल और बाती जलते हैं, वे धूम तथा गैस में परिणत हो जाते हैं, अतः उनका स्वरूप परिवर्तन अवश्य होता है, पर विलयन नहीं।

आकाश, जो साधारणतया नित्य प्रतीत होता है, वह भी कथंचित अनित्य भी है। उन्मुक्त आकाश जब घेरे में बन्द हो जाता है तो उसकी अवस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ही अनित्यता का सूचक है। यह निश्चित है कि स्थायित्व के बिना परिवर्तन आधारशून्य है और परिवर्तन के बिना स्थायित्व मूल्यहीन। कोई भी पदार्थ स्थायित्व और परिवर्तन की रेखा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। आम को निचोड़कर रस बना लिया गया। हमारी आँखों के सामने अब वह आम का फल नहीं है। रस, जो पहले दृष्टिगोचर नहीं था, हमारे सामने है, पर उसमें आमत्व वही है। उसे हम नारंगी का रस नहीं कहेंगे।

जहाँ तक चिन्तन और मान्यता का प्रश्न है, अनेकान्त दृष्टि हमारा पथ प्रशस्त कर देती है। पदार्थ अनन्त हैं और उन्हें जानने के लिए दृष्टियाँ भी अनन्त हैं। पर अभिव्यक्ति का साधन तो एक भाषा ही है। वह भी इतनी लचीली और दुर्बल कि उसके द्वारा हम एक क्षण में वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। इसका अर्थ होता है— एक वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए अनन्त शब्द चाहिए। और वैसे अनन्त-अनन्त पदार्थों के लिए अनन्त-अनन्त शब्द चाहिए। उनके लिए जीवन भी अनन्त चाहिए, पर यह संभव नहीं। अतः हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि भाषा के सहारे हम न तो वस्तु का सपूर्ण परिज्ञान ही कर सकते हैं और न ही अभिव्यक्ति। लेकिन जैन तीर्थंकरों ने भाषा के भंडार को एक ऐसा रत्न प्रदान किया, जिसके प्रभा-मंडल से समूचा भाषा-भंडार जगमगा उठा। वह शब्द रत्न है 'स्यात्'। यह इतना सक्षम है कि जिस वस्तु के साथ इसे जोड़ दिया जाए, उस वस्तु के समग्र रूप को अभिव्यक्त करने का अपना दायित्व वह बहुत ही जागरूकता से निभाता है। यह भाषा-जगत् का प्राण है। इसके अभाव में भाषा अपने दायित्व का निर्वाह कर ही नहीं पाती। यह अखंड सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। यह एक ऐसा दर्पण है, जिसमें वस्तु के सभी रूप एक साथ प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। यह वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्यतया प्रतिपादन करता हुआ भी उसके शेष अनन्त धर्मों को आँखों में ओझल नहीं कर सकता।

जाचार्यश्री तुलसी ने श्री "भिक्षु न्यायवर्णिका" में स्याद्वाद की मरल और मुगम परिभाषा देते हुए लिखा है—

अपेणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्यप्रतिपादनपद्धतिः स्याद्वादः ।

अनेक धर्मात्मक वस्तु का एक समय में, एक धर्म की प्रधानता—

विवक्षा और शेष धर्मों की अप्रधानता—अविवक्षा से प्रतिपादन करने की पद्धति अनेकान्तवाद है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से हम इस प्रयत्न मे सफल हो सकते हैं, अतः इसे स्याद्वाद भी कहते हैं।

स्यात् का अर्थ सशय या सभव नहीं। सशय अनिर्णायकता की स्थिति में होता है। वह अज्ञान है। उसकी भाषा बनती है—'यह अच्छा है या बुरा, कुछ नहीं कह सकते। इसके विपरीत स्वाद्वाद निर्णायक ज्ञान है। उसकी भाषा है—यह अमुक दृष्टि से अच्छा ही है और अमुक दृष्टि से बुरा ही है। वस्तु सत् भी है और असत् भी है। अर्थात् वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सत् है और दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्' है। एक फूल है। उसमे अस्ति धर्म जितना सावकाश है, उतना ही नास्ति धर्म भी है। इसलिए प्रत्यक्ष दिखने वाले फूल के विषय मे भी हम निश्चित कह सकते हैं—यह फूल है भी और नहीं भी। सभवतः एक बार यह हमें अटपटा-सा लगे, पर तभी तक, जब तक कि हम उसे विविध अपेक्षाओं के परिप्रेक्ष्य मे नहीं समझ लेते।

दृष्टियां	है	नहीं
द्रव्य दृष्टि	यह गुलाब का फूल है	कमल का फूल नहीं है
क्षेत्र दृष्टि	यह जयपुर का है	उदयपुर का नहीं है
काल दृष्टि	यह वसन्त ऋतु का है	ग्रीष्म का नहीं है
भाव दृष्टि	यह विकसित है	अविकसित नहीं है।

इस प्रकार एक ही वस्तु मे दार्शनिक दृष्टि से नित्य-अनित्य आदि तथा व्यावहारिक दृष्टि से छोटा-बड़ा, दूर-समीप, अच्छा-बुरा, खट्टा-मीठा, शीतल-उष्ण आदि अनन्त धर्मों की अवस्थिति निर्वाध है। यह 'स्यात्' शब्द परस्पर-विरोध धर्मों का प्रतिपादन नहीं करता, अपितु हमें जो विरोध लगता है, उसका यह अपेक्षा भेद से निरसन करता है।

प्रत्येक पदार्थ के विविध रूप हैं। उसे एकरूप मानना चिंतन की जड़ता का प्रतीक है। भोजन की उपयोगिता को कौन नकार सकता है? वह भूखे व्यक्ति के लिए परम रसायन, औषध तथा अमृत है। लेकिन वही अजीर्णग्रस्त व्यक्ति के लिए क्या जहर नहीं बन सकता?

व्यायाम स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है, परन्तु किन्हीं परिस्थितियों मे वह अस्वास्थ्य को बढ़ाने वाला भी हो जाता है।

हम इस सापेक्ष दृष्टि को दूसरे उदाहरण से और समझें। मान लें दो व्यक्तियों ने एक ही समय मे एक ही घड़े का पानी पिया। एक को वह पानी बहुत ठंडा लगा, पीकर तृप्त हो गया। दूसरे की प्यास नहीं बुझी। उसे वह पानी गर्म लगा। यह क्यों? पानी समान होते हुए भी दो व्यक्तियों की प्रतीति और परिणाम मे इतना अन्तर? इसका कारण यही हो सकता

है कि पहला व्यक्ति नल का गर्म पानी पीकर आया है, उसे घड़े का पंख ठंडा लग रहा है और जो बर्फ खाकर आया है उसे यही पानी गर्म लग रहा है। यह है अवस्था-भेद से संवेदन की भिन्नता।

एक फूल है। कोई व्यक्ति उसके रूप पर निछावर हो जाता है। कोई मादकता भरी महक से उन्मत्त। चिन्ताओं में डूबा किसी का मन विह्वल। फूलों को देख प्रसन्नता से भर उठता है तो किसी की वासना उभर जाती। कुछ व्यक्ति फूलों की सुगंध और कोमल स्पर्श के सुख-भोग में लीन रह जाते हैं, वहां कुछ समय-समय पर सरसाये-मुरझाये फूलों में पौद्गलिक सुखों की अनित्यता का बोध कर विरक्त भी हो जाते हैं। यदि वस्तु एक धर्मात्मक होती तो अलग-अलग परिस्थितियों में उसका प्रभाव एक-सा ही होता। विह्वल नहीं होता।

हम विद्युत् के युग में जी रहे हैं, घर-परिवारों में बहुत-सी प्रवृत्तियाँ बिजली के आधार पर चलती हैं। बिजली के उपयोग हेतु तार फिट किए जाते हैं। उनमें विद्युत् की धारा प्रवाहित होती है। उससे पखा चलता है, बल्ब जलता है, भोजन पकना है, रेडियो बजता है, टी०वी० चलता है, टेलीफोन पर बातचीत होती है, मकान वातानुकूलित बनता है। इस प्रवाह में अनेक रूपों में मनुष्य विद्युत् शक्ति का उपयोग करता है। जैसा कि हम जाना सभी तारों में एक ही बिजली का प्रवाह है फिर भी पक्षों में उसका चालक गुण, बल्ब में प्रकाशक गुण, सिगड़ी में दाहक गुण, रेडियो/टेलीफोन में ध्वनि-संप्रेषक गुण क्रियाशील है। जो बटन दबाया जाता है, वहीं प्रकट हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्युत् में अनेक गुण-विद्यमान हैं। यहाँ यहाँ भी ज्ञातव्य है कि उसके अन्यान्य गुण विभिन्न निमित्तों से प्रकट हो पाकर ही उभरते हैं। बल्ब में उसका प्रकाशक गुण ही कार्य करता है, न दाहक गुण। पर इतने मात्र से हम उसके दाहक गुण को नकार नहीं सकते हैं, प्रकाशक गुण के उभरते ही शेष धर्म अप्रधान बनकर उसका अनुगमन करने लग जाते हैं। गति के लिए यह अनिवार्य भी है। एक पैर जब बढ़ता है तो दूसरा अपने आप पीछे हट जाता है। यह गति में बाधा नहीं प्रेरणा है—यदि एक पैर पीछे हटने से इन्कार कर दे तो बड़ी मुश्किल पड़ी जाए।

इस प्रकार अनेकानेक और स्याद्वाद के माध्यम से हम पदार्थ का सम्यक् बोध और सम्यक्-प्रतिपादन कर सकते हैं। इसकी उपादेयता केवल व जगत् तक ही परिसीमित नहीं है। हमारे जीवन का प्रत्येक पहलू इस सस्पृष्ट तथा उजागर है।

हमारा जीवन एकता और विविधता का योग है। मनुष्य-मनुष्य है, यह समानता की अनुभूति समूची मानव-जाति को एकत्व के सूत्र में पि

रखती है। सबकी रुचिया, अपेक्षाएँ जीने की पद्धतियाँ और अपेक्षा-पूर्ति के स्रोत हैं भिन्न, अतः वह विविध रूपों में विभक्त हो जाती है।

व्यक्ति का जिसके साथ अधिक लगाव या ममत्व होता है, उसे वह महत्त्व देता है। फलतः विभिन्न वर्ग, जाति, भाषा, सम्प्रदाय आदि की रेखाएँ उभर आती हैं। महत्त्व देना बुरा नहीं, यदि उससे दूसरों का महत्त्व और हित खण्डित न हो। समस्या यही प्रसूत होती है कि व्यक्ति 'स्व' को जितना महत्त्व देता है, 'पर' को उतना ही नकारने लग जाता है। (यही से मानवीय एकता खण्डित होने लगती है। सघर्ष के ज्वालामुखी फूट पड़ते हैं।

एक परिवार में अनेक सदस्य होते हैं। उन सबके हित, स्वार्थ, रुचियाँ और योग्यताएँ भिन्न होती हैं। इस स्थिति में किसी एक के हितों, योग्यताओं आदि को महत्त्व व सम्मान देने पर परस्पर टकराव होता है और अलगाव की दीवारें खिंच जाती हैं। धीरे-धीरे वैमनस्य, घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाएँ बलवती होती जाती हैं। सरस पारिवारिक जीवन में विरसता का विष घुलने लग जाता है। इसके विपरीत यदि प्रत्येक सदस्य अपने हितों और भावनाओं को गौण कर दूसरों की भावनाओं और हितों को प्राथमिकता दे तो स्वयं का हित विघटित कभी नहीं होता, वह अधिक सघता है और पारिवारिक जीवन मधुमय बन जाता है। निरपेक्ष व्यवहार जहाँ एकत्व में विखराव पैदा करता है, वहाँ सापेक्ष व्यवहार विखरी हुई मणियों को सुन्दर माला का आकार प्रदान करता है। सापेक्ष दृष्टिकोण शान्त, सरस और सुखी जीवन का मूल मन्त्र है। दृष्टि की एकागिता आग्रह को जन्म देती है। आग्रह हिंसा है, जिसकी भूमिका में वैमनस्य और दुर्भावनाओं के बीज अकुरित होते हैं, जो एक दिन विष-वृक्ष के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

वर्तमान के सदर्भ में भी स्याद्वाद की अहंता निर्विवाद है। इसमें वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं का सुन्दर समाधान सन्निहित है।

शोषणहीन समाज की संरचना, निःशस्त्रीकरण, विश्वमैत्री, सह-अस्तित्व आदि दृष्टियों और सिद्धांतों का पल्लवन-उन्नयन स्याद्वाद के प्रतिष्ठान से ही संभव है।

जैन दर्शन की यह सुलभी हुई मान्यता समूचे विश्व के लिए एक वैज्ञानिक देन है।

जैन धर्म में जातिवाद का आधार

किसी अमीर व्यक्ति का अह जागा। वैभव के प्रदर्शन की वृत्ति पनपी। मा की पूजा का विराट् आयोजन रखा गया। सोने की चौकी बनवाई। आयोजन के पश्चात् वह स्वर्ण-निर्मित भारी चौकी ब्राह्मण को दक्षिणा में देते हुए गर्व के साथ बोला—“पडितजी ! आज तक कोई इतना बड़ा दानी आपने देखा क्या ?” जब अह से अह टकराता है तो वह अधिक शक्तिशाली हो जाता है। एक रुपये के साथ सोने की चौकी लौटाते हुए पडितजी ने कहा—“सेठजी ! आज तक कोई इतना बड़ा त्यागी देखा क्या ?” सेठजी का अह चूर-चूर हो गया।

जातिवाद की मान्यता के पीछे भी ऐसी ही गर्वोक्तिया परस्पर टकराती हैं और सघर्ष की चिनगारिया उछलती हैं।

जातिवाद का प्रश्न नया नहीं, हजारों वर्ष पुराना है। महावीर और बुद्ध के समय इसकी चर्चा ने उग्र रूप धारण कर लिया था। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक—सभी क्षेत्रों में जातिवाद का दैत्य प्रवेश पा चुका था।

जातिवाद के मूल में दो प्रकार की विचार-धाराएँ रही हैं। एक ब्राह्मण-परम्परा की और दूसरी श्रमण-परम्परा की। एक “जाति” का तात्त्विक मानती है और दूसरी अतात्त्विक।

ब्राह्मण-परम्परा ने जन्मना जाति का सिद्धांत स्थापित कर उसे तात्त्विक माना, ईश्वर-कृत माना। श्रमण-परम्परा ने कर्मणा जाति का सिद्धांत स्थापित कर उसे अतात्त्विक माना। समाज-व्यवस्था की सुविधा के लिए मनुष्य द्वारा किया गया वर्गीकरण माना।

ब्राह्मण-परम्परा ने कहा—ब्रह्मा के मुख से जन्मने वाले ब्राह्मण, भुजा से जन्मने वाले क्षत्रिय, पेट से जन्मने वाले वैश्य और पैरों से जन्मने वाले शूद्र हैं। जन्म-स्थान की भिन्नता के कारण इन वर्गों की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता घोषित की गई। ब्राह्मणों को सर्वोत्कृष्ट और पूज्य माना गया। अन्त्यर्जों को निकृष्टतम और घृणित माना गया।

श्रमण-परम्परा ने इस मान्यता का विरोध किया और यह पक्ष स्थापित किया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्म (आचरण) से होते हैं। जाति के आधार पर किसी को हीन मानना अपराध है। मानवता का अपमान है। जातिवाद के विरुद्ध इस महान् क्रांति के सूत्रधार थे—भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। भगवान् महावीर ने कहा—हीन जाति में उत्पन्न

व्यक्ति भी तप साधना द्वारा श्रेष्ठता और पूज्यता को प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत उच्च कुल में उत्पन्न होकर भी चरित्र-भ्रष्ट व्यक्ति उच्चता हासिल नहीं कर सकता। इसलिए जाति की दृष्टि से न कोई हीन है, न कोई अतिरिक्त है। न ऊँचा है, न नीचा है।

प्रश्न होता है—हिन्दुस्तान में जाति का विभाजन कब और क्यों हुआ ? तथा जातिवाद क्यों पनपा ?

जैन परम्परा के अनुसार पहले मनुष्य जाति एक थी। युग के आरम्भ में जातियों की व्यवस्था नहीं थी। वह यौगलिक युग था। जनसंख्या सीमित थी। जो भाई-बहन के रूप में उत्पन्न होते पति-पत्नी बनकर एक साथ रहते और एक साथ ही मरते। उन्हें युगलचारी या यौगलिक कहा जाता था। यौगलिक युग पलटा। कर्म-युग का प्रवर्तन हुआ। भगवान् ऋषभ राजा बने। उन्होंने मनुष्य-समाज को कुछ वर्गों में विभाजित कर दिया। मूल बात यह थी कि ऋषभ ने राज्य-संचालन के लिए कुछ व्यवस्थाएँ दी थीं। जहाँ व्यवस्था होती है, वहाँ विभाग आवश्यक होते हैं। विभाग का आधार है—समाज की विभिन्न अपेक्षाएँ। उन्होंने समाज को तीन विभागों में बाँटा— १. पगत्रय २. कौशल और ३. उत्पादन। इन तीनों के प्रतीक बने—असि, मसि और कृषि शब्द।

जब जनसंख्या बढ़ी, कल्पवृक्ष घटे और लोगों की जरूरत बढ़ी तो ऋषभ ने निर्देश दिया—उत्पादन बढ़ाओ और समाज की जरूरतों को पूरा करो। कृषि का विकास हुआ। कृषक-वर्ग उभरा।

उत्पादन के विनिमय-वितरण और निर्यात की व्यवस्था के लिए ऋषभ ने एक विभाग स्थापित किया। उसके आधार पर व्यवसाय—वाणिज्य-कौशल का विकास हुआ। वस्तु-विनिमय और वितरण में दोनों पक्षों को न्याय मिले, लाभ मिले, सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति उचित विनिमय के आधार पर हो, इस दृष्टि से व्यवस्थित हिसाब-किताब रखना भी आवश्यक समझा गया। उसका माध्यम था—लेखन। लिखने का प्रतीक शब्द बन गया। मसि—स्याही।

जहाँ विनिमय की बात होती है वहाँ सघर्ष की संभावनाएँ भी रहती हैं। हितों में टकराव और आपाधापी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऋषभ ने सबके हितों के संरक्षण हेतु रक्षा-व्यवस्था दी। उसका प्रतीक बना असि शब्द। असि यानि तलवार हथियार का प्रतीक बन गया।

समाज की रक्षा वही कर सकता है जो पराक्रमी हो।

वह पराक्रमी वर्ग क्षत्रिय कहलाया। इस प्रकार भगवान् ऋषभ ने उत्कालीन सामाजिक अपेक्षाओं के आधार पर समाज की सुविधा, विकास और सुरक्षा की दृष्टि से यह त्रिवेणी-व्यवस्था दी।

वैदिक परम्परा में निर्धारित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का मूल आधार भी बुद्धि, पराक्रम, विनिमय और सेवा ही रहा है। ब्रह्मा के मुख भुजा उदर और पैरो से उत्पन्न होने की जो बात कही गई है वह भी प्रतीकात्मक ही है। मुख बुद्धि का, भुजा पराक्रम का, पेट व्यवसाय-विनिमय का, पैर गति-शीलता—सेवा का प्रतीक है।

जहाँ समाज अथवा राज्य-संचालन का प्रश्न होता है, वहाँ व्यवस्थाएँ आवश्यक हैं। जहाँ व्यवस्था है, वहाँ वर्गीकरण भी जरूरी है।

समाज के लिए बुद्धि, पराक्रम, व्यवसाय-कौशल और सेवा में से किसी एक तत्त्व को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। समस्या तब उभरती है, जब किसी भी प्रवृत्ति का उद्देश्य और मूल रूप ओम्हन हो जाता है तथा दूसरा पक्ष उभर कर सामने आ जाता है।

काण्ट ने सामाजिकता की दृष्टि से व्यक्तियों को तीन वर्गों में बाटा है—

- १ बुद्धि प्रधान
- २ साहस प्रधान और
- ३ वासना प्रधान—सब की वासना—इच्छा की आपूर्ति करने वाला वर्ग।

यह वर्गीकरण जैन चिन्तन के अधिक निकट है, अनुकूल है। सामान्यतः हर व्यक्ति में तीनों शक्तियाँ होती हैं। किन्तु सब में सब प्रकार की शक्तियों का विकास समान नहीं होता। जिसमें जिस शक्ति का विशिष्ट विकास होता है वह व्यक्ति उस वर्ग के साथ जुड़ जाता है। पर एक वर्ग के व्यक्तियों में अमुक शक्ति का विकास होता ही है, यह जरूरी नहीं है।

ब्राह्मणों में भी अपढ—अविद्यावान हो सकते हैं। क्षत्रिय जाति में भी कोई भीरू हो सकता है। वैश्य परिवार में जन्म लेने वालों में भी सबको व्यावसायिक-बुद्धि, वाणिज्य-कौशल उपलब्ध हो, यह आवश्यक नहीं है। शिल्प और सेवा-कार्य भी किसी की नियति नहीं हो सकती। इसीलिए जैन-चिन्तकों ने कहा—जाति तात्त्विक नहीं है। मौलिक नहीं है। जाति-व्यवस्था मनुष्य द्वारा कृत है। समाज की उपयोगिता है। वह व्यक्ति की कमजा शक्ति के साथ जुड़ी हुई है। काय-परिवर्तन के साथ ही जातिगत मान्यता परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रसंग में आचार्य कृपलानी का उदाहरण बहुत ही प्रेरक हो सकता है। एक बार वे ट्रन से यात्रा कर रहे थे। बगल की सीट पर बंठ सज्जन ने पूछा—“आप किस कोम के हैं?” कृपलानी मौन रहे। दूसरी-तीसरी बार पूछने पर बोले—“भाई! मैं किसी एक कोम का होऊँ तो बालू। देखो; सुवह-सुवह अपनी साफ-सफाई करता हूँ, इसलिए हरिजन हूँ।

मध्याह्न में खरीरदारी करता हूँ अथवा सहयोग का विनिमय करता हूँ, अतः वैश्य हूँ। मेरी वृत्ति है अध्यापन, इसलिए ब्राह्मण हूँ तथा अपनी और अपने परिवार की रक्षा का दायित्व निभाता हूँ, इसलिए मैं क्षत्रिय भी हूँ।

यही बात भगवान् महावीर ने कही थी —

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है। इसलिए जाति को लेकर किसी से घृणा मत करो।

जाति का वर्गीकरण कर्म के आधार पर होता है इस तथ्य को समझते हुए उन्होंने कहा—समाज व्यक्तियों से बनता है। व्यक्तियों में शक्ति की भिन्नता और तरतमता होती है। उसी के अनुरूप कर्म होता है। कर्म जाति का आधारभूत तत्त्व है।

भगवान् महावीर और बुद्ध ने जातिवाद के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन चलाया। उन्होंने कहा—जाति का गर्व मत करो। जाति का अहं नरक का कारण है। इतने प्रयत्नों के बावजूद भी हमारे देश में जातिवाद का जुड़ाव मानव-मन के साथ गहरा हो गया है। हीन कुल में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति को सामान्य मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया। उसके लिए विकास के सारे द्वार बन्द हो गए। धर्म के लोगो ने जातिवाद की आड़ में आपसी वैमनस्य को बढ़ावा देने में प्रमुख भूमिका निभाई। उस समय यह तत्त्व भुला दिया जाता है कि जाति व्यवहाराश्रित है और धर्म आत्माश्रित। आत्म-जगत् में प्रत्येक प्राणी समान है। वहाँ जातियों के विभाग इन्द्रियों के आधार पर हैं। धर्म के आधार पर मानव का बटवारा करना धर्म-विरुद्ध है। धर्म के उपदेष्टा ऋषियों ने कहा—प्रत्येक प्राणी को अपने जन्म समझो। उनकी दृष्टि में भाषा, वर्ण, धर्म, जाति आदि को लेकर भेद-भावना को प्रश्रय देना अनुचित है। जातियों की कल्पना केवल कर्म की दृष्टि से की गयी थी। आचार, रीति-रिवाज तथा भौगोलिक दृष्टि से भिन्न होते हुए भी “मनुष्य जाति एक है” ऐसा कह कर सब में भ्रातृत्व के बीज बोये गये थे। फिर भी मनुष्य इस एकता को भूलकर अनेकता में विभक्त हो गया। वह जाति के मद में एक को ऊँचा और एक को नीचा समझने लगा। फलस्वरूप समाज में घृणा का वातावरण निमित्त हो गया।

श्रमण-परम्परा के विद्वान् आचार्य धर्म-कीर्ति ने जडता के पाच नक्षण बताए हैं, उनमें एक है जाति का अहंकार। अहं उन्माद पैदा करता है। उन्माद की स्थिति में इतनी मोटी बात भी समझ में नहीं आती कि आदमी आदमी को नीचा न समझे, उसे भ्रातृत्व की दृष्टि से देखे, भ्रातृत्व-भावना का विकास करे।

वास्तव में जाति आदि को लेकर किसी को ऊँचा-नीचा समझना

कोई बौद्धिक बात नहीं है। यह मात्र मान्यता का प्रश्न है। किसी भी मान्यता के पीछे व्यक्ति की वृत्तियां काम करती हैं। सम्प्रदाय, सगठन, सस्थान आदि की अपनी-अपनी मान्यताएं होती हैं। प्रत्येक मान्यता के पीछे भिन्न-भिन्न वृत्तियां रहती हैं। जैन मनोविज्ञान की दृष्टि से जातिवाद और सम्प्रदायवाद के पीछे मूल वृत्ति है राग। जहां राग होता है, वहां द्वेष निश्चित होता है। अपनी जाति के प्रति राग व्यक्ति में अहंभाव भरता है और अन्य जाति के प्रति द्वेष तथा घृणा का वातावरण निर्मित करता है। राग और द्वेष को प्रकट होने के लिए किसी-न-किसी माध्यम की जरूरत रहती है। भारतीय समाज में इस वृत्ति को पनपने का मौका मिला जातिगत भेद-भाव के माध्यम से। पश्चिमी देशों में जाति की समस्या नहीं है तो वहां रंग-भेद की समस्या बहुत विकराल है। रंग के आधार पर काले और गोरे—ये दो वर्ग बन गये और संघर्ष का अन्तहीन सिलसिला चालू हो गया। इस समस्या ने राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति तथा शिक्षानीति को प्रभावित किया है। रंग के आधार पर मनुष्यजाति को विभक्त कर आपसी विद्वेष और वैमनस्य को बढ़ावा दिया है। सचार्थ यह है कि किसी को हीन मान कर अपनी उच्चता कभी स्थापित नहीं की जा सकती।

वर्तमान की चिंतन-धारा के अनुसार जातिवाद का समर्थन करना न बुद्धिमानी है, न तर्क-सगत है, न कानून-सम्मत है और न न्याय-सगत। जाति के आधार पर किसी को हीन मानना, अछूत मानना, मानवाधिकार का स्पष्ट हनन है।

जाति को अतात्विक मानने वाले दर्शनो ने जैसे 'मनुष्य-जाति एक है' का घोष दिया, वैसे जाति को तात्त्विक—मौलिक मानने वाले ईश्वरवादी दर्शनो ने भी उत्तरकाल में यह घोषणा की कि मनुष्य अच्छा बुरा कर्मों से होता है। जाति में नहीं। फिर सिद्धांत जो स्वीकार किया गया वह व्यवहार में नहीं आया। व्यावहारिक घरातल पर जातिवाद का विप-वृक्ष वैसे ही फलता-फूलना रहा। भारतीय इतिहास के पृष्ठ ऐसी घटनाओं से भरे पडे हैं, जहां जातीयता के नाम पर दानवता को खुलकर खेलने का अवसर मिला। इन्सान के द्वारा उन्मान के साथ क्रूरता और निर्दयता पूर्ण व्यवहार हुआ।

जातीयता के अभिशाप से पीडित न जाने कितने सूतपुत्र कर्ण और भीमपुत्र एकलव्य आज भी करुण पुकार कर रहे हैं कि—

दोन जन्म लेता किस कुल में आकस्मिक ही है यह बात छोटे कुल पर हाथ ! यहा होते रहते कितने आघात ! हाथ जाति छोटी है तो फिर सभी हमारे गुण छोटे ! जाति बड़ी तो बड़े बनें, फिर लपट रहे चाहे छोटे ! आज जहां महत्त्व, समन्वय और समानता के सिद्धांत राष्ट्रीय

और अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को प्रभावित कर रहे हैं। विश्व-मानव की सुखद परिकल्पना कर मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता का सेतु स्थापित कर रही है, वहाँ लगता है साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता आदि दूरी के विन्ध्या-चल बन कर मनुष्य-मनुष्य के बीच खड़े हो गये हैं। जातीयता का यक्ष मानव-मन की धरती पर घृणा के विष-बीज बो रहा है। लगता है; सैद्धांतिक स्तर पर जाति को अतात्विक मानने वाला जैन-समाज भी जातिवाद की लोह-शृंखला से मुक्त नहीं है। अपेक्षा है वर्तमान के सदर्भ में जैन-समाज अपने पवित्र सिद्धांतों की स्मृति करता हुआ अपने व्यवहारों को परिवर्तित करे।

अणुव्रत अनुशास्ता सत श्री तुलसी "अणुव्रत" के माध्यम से इस दिशा में वर्षों से भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। अणुव्रत विचार दर्शन ने समाज की धरती पर एकता और समानता की धाराएँ प्रवाहित की हैं। जातिवाद के आधार पर पनपी ऊँच-नीच और छूआ-छूत की धारणाओं को तोड़ा है। पर आने वाले युग की चुनौतियों को देखते हुए जैन समाज को इस दिशा में काफी प्रयत्न करना है।

अणुव्रत के एक व्रत का भी यदि सकल्पित होकर अनुशीलन किया जाए तो जैन-समाज का यह क्रांतिकारी कदम समग्र मनुष्य जाति के लिए चरदायी सिद्ध हो सकता है। वह व्रत है—

‘मैं जाति के आधार पर किसी को अस्पृश्य नहीं मानूँगा।
मैं जाति के आधार किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूँगा,
घृणा नहीं फैलाऊँगा।

रत्नत्रयी : जैन साधना का आधार

दुनिया में सर्वोत्कृष्ट वस्तु को रत्न कहा जाता है। पौराणिक युग में देवों और दानवों ने मिलकर समुद्र-मथन किया। चौदह रत्न निकले। उनसे देवों और दानवों को सतुष्ट किया गया।

अध्यात्म के यात्रियों ने अर्हत्-वाणी के आलोक में आत्म-मथन किया, उससे उन्हें तीन रत्न मिले। उन तीन रत्नों के आधार पर प्रकाश, आनन्द तथा शक्ति के स्रोतों की खोज की।

नीतिकारों ने लोक भाषा में कहा—“पृथ्वी पर तीन ही रत्न — हैं अन्न, जल और सुभाषित। वे मूढ हैं, जो पत्थर के टुकड़ों को रत्न कहते हैं।”

भगवान् महावीर ने कहा—“धर्म के क्षेत्र में तीन ही रत्न हैं— सम्यग् ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य। वे मूढ हैं, जो विभिन्न प्रकार के क्रिया-काण्डों में दुःख-मुक्ति के दर्शन करते हैं।”

पहले प्रकार के रत्न लौकिक हैं और दूसरे प्रकार के लोकोत्तर। लौकिक बाह्य समृद्धि के सूचक हैं। लोकोत्तर रत्न आंतरिक समृद्धि के प्रतीक हैं।

धर्म के क्षेत्र में दो धाराएँ प्रवाहित हैं—प्रवर्तक धर्म और निवर्तक धर्म। यज्ञ-याग पूजा-पाठ आदि कर्म-काण्डों को प्रमुखता देने वाले धार्मिक प्रवृत्तिमार्गी कहलाते हैं। वाहरी क्रियाकाण्डों में न उलझकर मात्र आत्मोप-सन्धि या आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्नशील धार्मिक निवृत्तिमार्गी कहलाते हैं।

वैदिक धर्म प्रवर्तक धर्म है। उसका लक्ष्य है—स्वर्ग-प्राप्ति। “स्व-कामो यजेत”—स्वर्ग प्राप्ति की कामना से यज्ञ करो। जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान है। उसका लक्ष्य है—निर्वाण। निर्वाणवादी धारा के पुरस्कर्ता थे—भगवान् महावीर—“णिन्वाणवादी इह पायपुत्ते।”

निर्वाण का अर्थ है परम शान्ति—मोक्ष की प्राप्ति। उसके उपाय हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य। ये मुक्ति के सर्वोत्तम उपाय हैं, इसलिए रत्न कहलाते हैं। इनका समन्वित नाम है—रत्नत्रयी। जैन-धर्म में रत्नत्रयी का बहुत बड़ा स्थान है। क्योंकि जैन-धर्म लोकोत्तर धर्म है। जैन-दर्शन मोक्ष-दर्शन है। मोक्ष-प्राप्ति का पहला सूत्र है—सम्यक् दर्शन, दूसरा सूत्र है सम्यक् ज्ञान और तीसरा सूत्र है सम्यक्-चारित्र्य। यह त्रिपदी ही मोक्ष-पदी है।

आचार्य उमास्वाति लिखते हैं—

“सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्ष-मार्गं ।” वस्तुतः रत्नत्रयी का समवाय ही मोक्ष-मार्ग है। तीनों मिलकर ही मुक्ति के हेतु बनते हैं। अकेले में मोक्ष-मार्ग बनने की क्षमता नहीं है। जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य एक दूसरे से निरपेक्ष होते हैं, आपस में बट जाते हैं, तो न ज्ञान सम्यक् रहता है, न दर्शन सम्यक् रहता है और न चारित्र्य सम्यक् रहता है। मिथ्या ज्ञान, दर्शन और आचरण व्यक्ति को मूढ़ बनाते हैं। मोक्ष की आराधना में तीनों का सम्यक् होना और परस्पर सापेक्ष होना अनिवार्य है। कोरा ज्ञान या कोरा आचार मुक्ति का हेतु नहीं बन सकता। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य—इस त्रिवेणी में डूबकी लगाने से ही शुद्धि और सिद्धि उपलब्ध होती है।

जैन-धर्म आंतरिक शुद्धि पर बल देता है। शुद्धि का घटक तत्त्व है—अन्तर्यामि। अन्तर्यामि का अर्थ है शुद्ध चैतन्य का अनुभव करना। चैतन्य का स्वरूप है—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। इनकी आराधना ही चैतन्य की आराधना है। यही धर्म है।

इस रत्नत्रयी में दर्शन का स्थान पहला है। यह मोक्ष-साधना का महत्त्वपूर्ण आधार है। आधार सुदृढ़ होता है तो भवन-निर्माण सहज और स्थायी होता है। दर्शन के साथ ही ज्ञान घटित होता है और उससे चारित्र्य (स्व में अवस्थित होने का भाव) जागृत होता है। सक्षेप में यही है जैन साधना पद्धति। उसका केन्द्र है—दर्शन और परिधि है—पवित्र आचरण।

ग्रीक के महान् दार्शनिक सुकरात ने धर्म की परिभाषा की—“ज्ञान ही धर्म है। ज्ञान से भिन्न कोई धर्म नहीं है।”

तीर्थंकर महावीर ने कहा—“पद्म नाण तओ दया ।” धर्म में पहला स्थान है ज्ञान और श्रद्धा का तथा दूसरा स्थान है अहिंसा रूप आचार का। सुकरात ने कहा—वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं होता, जिसका आचरण न हो। आचरण-शून्य ज्ञान अयथार्थ है, मिथ्या धारणा है, भ्रांति है। महावीर ने कहा—“आहुसु विज्जा चरण पमोवखो”—ज्ञान और आचरण के योग से ही मोक्ष संभव है।

सुकरात ने कहा—ज्ञान यदि यथार्थ है, तो उसका आचरण अवश्य होगा। यथार्थ ज्ञान और आचरण को अलग नहीं किया जा सकता।

इस सदर्भ में महावीर का एक मूल्यवान् शब्द है—परिज्ञा। उसकी समग्रता है—ज्ञ-परिज्ञा—जानना और प्रत्याख्यान परिज्ञा—जसद् को छोड़ना। इन दोनों का योग ही मोक्ष-मार्ग की परिपूर्णता है।

सम्यक्-दर्शन

इसका अर्थ है—यथार्थ दृष्टिकोण। दर्शन मोह के विलय से दर्शन

चेतना जागती है। वस्तु को यथार्थ दृष्टि से देखने-परखने की शक्ति विकसित होती है। चेतन-अचेतन, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य तथा करणीय-अकरणीय का स्पष्ट बोध होने लगता है। इसी का नाम है—सम्यग्-दर्शन।

सम्यक् दर्शन की व्यावहारिक परिभाषा है—यथार्थदृष्टि सम्यग् दर्शनम्—इसका तात्पर्य है—तात्त्विक तथ्यो और नौ तत्त्वो पर श्रद्धा होना। निश्चय की भाषा में सम्यग् दर्शन का अर्थ है—आत्मा का निश्चय होना। “दर्शन निश्चय प्सि” जो आत्मदर्शी होता है वह सम्यग्दर्शी होता है और जो सम्यग्दर्शी होता है वह आत्मदर्शी होता है।

कुछ व्यक्ति धर्म के प्रति मूढ होते हैं, कुछ ध्येय के प्रति मूढ होते हैं तो कुछ आराध्य के प्रति—भगवान के प्रति मूढ होते हैं। दृष्टि-सम्पन्नता में सभी प्रकार की मूढताएँ समाप्त हो जाती हैं, मूर्च्छा का वलय टूट जाता है।

सम्यक् द्रष्टा का ध्येय होता है—आत्म-साक्षात्कार। उसका धर्म होता है—आत्म-रमण और उसका आराध्य या भगवान होता है—वीतराग आत्मा।

सम्यक् दृष्टि के जागरण की पहचान है—

- शम—अन्तर आवेगो की शान्ति
- सवेग—मुमुक्षा
- निर्वेद—अनासक्ति
- अनुकम्पा—करुणा
- आम्तिव्य—सत्यनिष्ठा।

रत्नत्रयी में सम्यक् दर्शन का स्थान पहला है, क्योंकि सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता। जहाँ दर्शन मिथ्या है वहाँ ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। जहाँ दर्शन सम्यक् है वहाँ ज्ञान भी सम्यक् है। दर्शन सम्यक् बनते ही ज्ञान सम्यक् बन जाता है।

“सम्यक् श्रद्धा भवेत्तत्र सम्यग् ज्ञान प्रजायते।

सम्यक् चारित्र-संप्राप्तैर्योग्यता तत्र जायते ॥” (संबोधि १४/८)

दर्शन-विहीन व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्र-गुण प्रकट नहीं होते। चारित्र के बिना निर्वाण नहीं होता।

सम्यक्-ज्ञान

“यथार्थबोध सम्यग्-ज्ञानम् ॥”

यथार्थ बोध को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का काम है जानना। पर ज्ञान का उद्देश्य मात्र पदार्थों को जानना ही नहीं है। उसका मूल उद्देश्य है स्वयं को जानना। भ० महावीर ने कहा—

“सपिक्खए अप्पगमप्पएण ।” आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो । महात्मा बुद्ध ने कहा—“अप्पदीवोभव” —अपने दीप स्वय बनो । सुकरात ने कहा—“नो दी सेत्फ” —अपने आप को जानो । निष्कर्ष की भाषा में स्वय का बोध—“मैं कौन हूँ”—यह ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है । जिसे स्वय का यथार्थ बोध हो जाता है, वह वस्तु जगत् को भी सही-सही जानने-समझने लगता है । सम्यक् ज्ञान का फलित है—पदार्थ के प्रति भी यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण । स्वय के बोध के अभाव में जागतिक ज्ञान भी मिथ्या है, व्यर्थ है ।

“जब जान्यो निजरूप को, तब सब जान्यो लोक ।

नहीं जान्यो निजरूप को, तब सब जान्यो फोक ।”

ज्ञान जड़ और चेतन का विभाजक तत्त्व है । प्रत्येक प्राणी में ज्ञान की मात्रा का न्यूनतम विकास अवश्य होता है । इसके बिना जड़ और चेतन में कोई अन्तर नहीं रहता । ज्ञान की न्यूनाधिकता क्षयोपशम सापेक्ष है । ज्ञान और दर्शन के आवारक कर्मों के सम्पूर्ण विलय से अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की अखड लौ प्रज्वलित हो उठती है ।

सम्यक्-चारित्र

“महाव्रतादीनामाचरण सम्यक् चारित्रम् ।”

महाव्रत आदि का आचरण करना सम्यक् चारित्र है । नाणस्स सारो आयारो—ज्ञान का सार आचार है । चारित्र और आचार—इन दोनों का अर्थ एक ही है । सम्यक् चारित्र का एक अर्थ है—पवित्र आचरण । दूसरा अर्थ है—चय रिक्ती करण चारित्रम्—सचित सस्वारो के रेचन का नाम चारित्र है ।

निश्चय नय के आधार पर चारित्र की परिभाषा है—“स्थितिरथैव चारित्रम्”—आत्मा में स्थित अवस्थित होना चारित्र है । महाव्रत, अणुव्रत, असत्प्रवृत्ति का निरोध—ये सब चारित्र के ही अंग हैं ।

ज्ञान की आराधना से अज्ञान क्षीण होता है । दर्शन की आराधना से आस्था का निर्माण होता है, जन्म-परम्परा का अंत होता है, मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है । चारित्र की आराधना से स्थिरता उपलब्ध होती है, कर्मों का निरोध होता है स्वनियन्त्रण की क्षमता जागती है । इसकी परिपूर्ण साधना से परमात्मतत्त्व प्रकट होता है ।

इस त्रयी की आराधना ही आत्मा की आराधना है । यही धर्म है । जितने भी अर्हत्, बुद्ध और परमप्रज्ञा-प्राप्त माधक हुए हैं, उन्होंने धर्म-चिन्तन में किसी न किसी रूप से इस त्रयी को न्वीकृति दी है । हिन्दू धर्म में इसे ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है । इन्हीं तत्त्वों को इस्लाम धर्म में “मारफत, तरीकत और शरीअत” कहा गया है ।

महात्मा बुद्ध इन्हे—सम्मादिट्ठी, सम्मासकप्पो और सम्मावायामो कहते हैं तो पारसी धर्म भी हुमता (पवित्र विचार), हुक्का (पवित्र वाणी) और हर्षता (पवित्र कर्म) पर बल देता है।

भगवान् महावीर ने कहा—जब दृष्टि सम्यक् होती है, ज्ञान सही होता है और आचरण पवित्र होता है तो धर्म बढ़ता है। अन्यथा धर्म घटता है।

आनन्द ने तथागत बुद्ध से पूछा—भते ! आपके निर्वाण के बाद आपके शरीर का क्या किया जाए ? बुद्ध ने कहा—आनन्द ! इसमें सिर मत खपाओ। मैंने जो साधना-धर्म दिया है, उसका अभ्यास करो। मेरे इस शरीर को मत देखो। धर्म शरीर को देखो। जो मेरे धर्म शरीर को देखता है, वह मुझे देखता है, और जो मुझे देखता है वह मेरे धर्म शरीर को देखता है।

भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—“गौतम ! सत्य की शोध में प्रमाद मत कर। मेरे से स्नेह मत कर। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना कर मुक्त बन।”

यह रत्नत्रयी जितनी पुष्ट—सशक्त होगी, धर्म उतना ही शक्तिशाली बनेगा।

जैन जीवन प्रणाली (१) जैन गृहस्थ की आचार-सहिता

सुख-प्राप्ति और दुःख-मुक्ति की दिशा में प्रत्येक चेतनशील प्राणी प्रयत्न करता है। मनुष्य विकसित चेतना वाला प्राणी है। उसकी बौद्धिक क्षमता और शारीरिक क्षमता बेजोड़ है। वह नित्य नए आविष्कारों तथा प्रयोगों द्वारा ऐसे ससाधनों को प्राप्त करने में जुटा है, जो उसे अधिक से अधिक सुख दे सके, आराम दे सके। इस परिप्रेक्ष्य में अनेक दार्शनिक विचार सामने आए। सम्पूर्ण सुख-भोग का हेतु क्या है? इसके उत्तर में षाविन ने कहा—अस्तित्व की सुरक्षा के लिए सतत सघर्षशील बने रहना ही सुख का आधार-भूत तत्त्व है। इसी प्रकार फ्रायड ने काम को, माक्स ने अर्थ को और नीत्से ने सत्ता को सुख का आधार माना।

इन महान् विचारकों ने अपने विचार-दर्शन को इतने प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया कि वैयक्तिक और जागतिक स्तर पर मनुष्य-समाज की सारी अवधारणाएँ बदल गईं। इस सुखवादी विचारधारा के आधार पर अनेक प्रकार की जीवन-प्रणालियाँ विकसित हुईं। इस सन्दर्भ में जैन-दर्शन नई दिशा प्रदान करता है। भगवान् महावीर ने कहा—सुख का आधार है अध्यात्म। सघर्षशीलता, कामना, अर्थ और सत्ता—ये समग्र शक्तियाँ धर्म से नियमित बनकर ही मानव-जाति के लिए वर्दान बन सकती हैं। दुःख-मुक्ति और सुख-समृद्धि की पीछे अध्यात्म के ठोस धरातल पर ही संभव है। अध्यात्म की भूमिका पर इस जीवन-शैली को हम 'जैन जीवन-प्रणाली' कह सकते हैं। उसके आधारभूत तत्त्व हैं—सयम और सदाचार। महावीर ने कहा—

असयम परित्यज्य, सयमस्तेन सेव्यताम् ।

असयमो महद् दुःख, सयम सुखमुत्तमम् ॥ सर्वोधि १४।४३

असयम दुःख है सयम सुख है, इसलिए असयम को त्यागो और सयम का आचरण करो।

गृहस्थ हो या मन्यासी—सब मुक्त हो सकते हैं, यदि वे अनुत्तम सयम का पालन करते हों। मन्यासी सयम के शिखर पर स्थिर होना है। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति अध्यात्म से अनुप्राणित होती है, किन्तु एक गृहस्थ के लिए भी सयम का बहुत बड़ा मूल्य है। सयम के द्वारा जीवन मूल्यवान् बन

जाता है। समय ही धर्म है, समय ही अध्यात्म है। व्यक्ति किसी भी कार्य-क्षेत्र, परिस्थिति, सम्प्रदाय और परिवेश में रहता हुआ धर्म की साधना कर सकता है। इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता नहीं है। भगवान् महावीर ने मुनिजनो के लिए आचार-सहिता का निर्धारण किया तो सद्-गृहस्थो के लिए भी एक उन्नत जीवन-प्रणाली प्रस्तुत की, उसकी व्यवस्थित विधि बताई।

धर्म के क्षेत्र में यह जैन-धर्म की सर्वथा मौलिक और अद्भुत देन है। गृहस्थ साधक की आचार-सहिता और उसका साधना-क्रम, जैन-परम्परा में जितना सुन्दर और व्यवस्थित मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

जैन-धर्म में मुनि के लिए पाच महाव्रतो तथा गृहस्थ साधक के लिए पाच अणुव्रतो के पालन का विधान है।

महाव्रतात्मको धर्मोऽनगाराणा च जायते ।

अणुव्रतात्मको धर्मो, जायते गृहमेधिनाम् संबोधि ॥ १४/४०

अणुव्रत—

अणुव्रत का अर्थ है—छोटे-छोटे व्रत या यथाशक्ति गृहीत व्रत। अणुव्रत पाच हैं—

१. अहिंसा-अणुव्रत—स्थूल हिंसा का परित्याग।

गृहस्थ के लिए आरम्भजा—कृषि, वाणिज्य आदि में होने वाली हिंसा से बचना कठिन होता है। उस पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। गृहस्थी को चलाने के लिए उसे वध-बन्धन आदि का सहारा भी लेना पड़ता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से भी वह नहीं बच सकता। वह पारिवारिक, सामाजिक दायित्वों को वहन करते हुए केवल सकल्पपूर्वक निरपराध प्राणियों की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा अणुव्रत है।

२. सत्य-अणुव्रत—स्थूल असत्य का परित्याग।

गृहस्थ के लिए सपूर्ण असत्य को त्यागना कठिन है, किन्तु वह ऐसे असत्य का सहारा न ले जिससे किसी निर्दोष प्राणी को सकटग्रस्त होना पड़े।

३. अस्तेय-अणुव्रत—गृहस्थ के लिए छोटी-बड़ी सभी प्रकार की चोरी में ब्रवना कठिन है, परन्तु वह कम से कम ऐसी चोरी न करे, जिससे राज्य दण्ड दे और लोक निंदा करे। डाका डालना, ताला तोड़कर चोरी करना, वैयक्तिक या सरकारी संपत्ति को लूटना—ये सब सद्गृहस्थ के लिए वर्जनीय हैं।

४ ब्रह्मचर्य-अणुव्रत—गृहस्थ के लिए पूर्ण ब्रह्मचारी रहना कठिन है, पर एक सीमा तक वासना पर नियन्त्रण स्थापित करना भी आवश्यक है। परस्त्री-गमन, वेश्यागमन आदि अवाञ्छनीय प्रवृत्तियाँ हैं। सद्गृहस्थ उनसे बचे और स्वदार-सतोष व्रत का पालन करे। वर्तमान के सदर्भ में जहाँ 'एड्स' जैसा घातक रोग एक विभीषिका पैदा कर रहा है, ब्रह्मचर्य अणुव्रत का मूल्य बढ़ गया है।

५ अपरिग्रह अणुव्रत—गृहस्थ सर्वथा परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता, पर इच्छाओं के असीमित विस्तार का नियमन कर वह परिग्रह की सीमा कर सकता है। अति सग्रह की मनोवृत्ति सामाजिक विषमता को जन्म देती है, अतः अपरिग्रह अणुव्रत सामाजिक स्वस्थता के लिए भी जरूरी है।

गुणव्रत

जो व्रत गृहस्थ की वाह्य-चर्या को सयमित करते हैं, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। वे तीन हैं—

१ दिग्विरति—पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में गमनागमन की सीमा का निर्धारण।

२. उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत—व्यक्तिगत भोग-सामग्री का परिमाण करना।

३. अनर्ब-दण्ड विरति—विना प्रयोजन हिंसा का त्याग करना।

ये तीनों व्रत अणुव्रत भावना को पुष्ट करते हैं इसलिए भी ये गुणव्रत कहलाते हैं।

शिक्षाव्रत

जो व्रत अभ्यास-साध्य होते हैं और आंतरिक पवित्रता बढ़ाते हैं, उन्हें शिक्षाव्रत कहा जाता है। वे चार हैं—

१ सामायिक—असत्प्रवृत्ति से विरत होकर समता का अभ्यास करना।

२ देशावकाशिकव्रत—एक निश्चित अवधि के लिए विधिपूर्वक हिंसा का त्याग करना।

३ पौष्य—उपवासपूर्वक असत्प्रवृत्ति का त्याग करना।

४ अतिथि-सविभाग—अपना विसर्जन कर पात्र को दान देना।

इन व्रतों का पालन करने वाला जैन श्रावक या उपामक कहलाता है। ये व्रत शांत, सुखी, नयमी और सात्विक जीवन के प्रेरक हैं।

भारतीय संस्कृति में नाशु-सस्या की अतिरिक्त प्रतिष्ठा है। उसे ऊँची निगाहों से देखा जाता है। सती के प्रति जनता में सहज पूज्य भाव है। इम

सदर्भ में ये स्वर भी उभरे कि मोक्ष का अधिकारी सन्यासी ही हो सकता है। गृहस्थ मुक्ति का अधिकारी नहीं है। भगवान् महावीर ने भी कहा—

“बधे गिहवासे, मोक्खे परियाये”

गृहवास बन्धन है, पर्याय—मुनि-जीवन मोक्ष है। क्योंकि “सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परियाये” गृहवास सकलेशो से भरा है, पर्याय क्लेश-रहित है।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि गृहस्थ मोक्ष प्राप्त कर ही नहीं सकता।

जैन धर्म के प्रवक्ता आचार्यों ने कहा—

न्यायाजितधन स्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय ।

शास्त्रवित् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥

जिसके अर्थार्जन के स्रोत शुद्ध हो, जिसकी तत्त्वज्ञान में निष्ठा हो, त्यागी साधु-सन्तो के प्रति अनुराग हो, जो धर्म-शास्त्रों का ज्ञाता हो और सत्यवादी हो, वह व्यक्ति गृहस्थ में रहना हुआ भी मुक्त हो सकता है।

जैन-श्रावक के लिए निर्दिष्ट उक्त बारह व्रत निश्चित ही व्यवहार-शुद्धि के पोषक हैं। इनमें नीति, प्रामाणिकता, समय सदाचार और सात्विकता की प्रधानता है। इन व्रतों के पालन से जो तथ्य फलित होते हैं, उनमें आदर्श समाज के निर्माण की परिकल्पना निहित है।

व्रतों के फलित—

१. अहिंसा अणुव्रत के फलित—अहिंसा का साधक किसी के साथ क्रूर व्यवहार नहीं करता।

अधीनस्थ व्यक्ति के श्रम और शक्ति का शोषण नहीं करता, उसके भक्तपान का विच्छेद नहीं करता। किसी की दुर्बलता का अनुचित लाभ नहीं उठाता।

२. सत्य अणुव्रत के फलित—सत्य का साधक किसी का मर्म-प्रकाशन नहीं करता। झूठे दस्तावेज या लेख नहीं लिखता। किसी पर झूठा आरोप नहीं लगाता।

३. अचौर्य अणुव्रत के फलित—अस्तेय का साधक चोरी का माल नहीं लेता। राष्ट्रीय हितों का विरोधी व्यापार नहीं करता।

४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत के फलित—ब्रह्मचर्य का साधक यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, इन्द्रिय-विजय और मनो-विजय का अभ्यास करता है।

५. अपरिग्रह का फलित — अपरिग्रह का साधक अति सग्रह नहीं करता, अनावश्यक सग्रह नहीं करता, शोपण नहीं करता, किसी के अधिकारी का हनन नहीं करता ।

गृहस्थी के रय के दो पहिए हैं — हिंसा और परिग्रह । गृहस्थ साधक इनमें सर्वथा उपरत नहीं हो सकता । फिर भी इनकी गति अनियन्त्रित और निरकुण न हो, इस दृष्टि से भगवान् महावीर ने ये दो सूत्र दिए—

१. अनर्थ हिंसा से बचाव ।

२ इच्छाओं का अल्पीकरण ।

ये सूत्र जैन जीवन-प्रणाली के रूप में विकसित हुए ।

यह एक सद्गृहस्थ की पहचान बन गई । जैसे महात्मा गांधी ने अति सग्रह या पूजीवाद में उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का सूत्र दिया ट्रस्टीशिप की नई दृष्टि दी वैसे ही भगवान् महावीर ने उपभोग-परिभोग-विरति व्रत और इच्छा परिमाण व्रत के माध्यम से व्यक्तिगत भोग-सामग्री के समय की तथा इच्छा-समय की प्रेरणा दी, ये सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक छातों की शुद्धि की दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान हैं ।

एक श्रावक न केवल आध्यात्मिक होता है और न केवल सामाजिक । वह दोनों भूमिकाओं में सामजस्य स्थापित कर चलता है ।

द्विविधो गृहिणां धर्मो आत्मिको लौकिकस्तथा ।

सवरो निजरा पूव समाजाभिमतो परः ॥

गृहस्थ धर्म दो प्रकार का है—आत्मिक और लौकिक । आत्मिक धर्म है सवर और निजरा । समाज द्वारा अभिमत धर्म लौकिक कहा जाता । आत्मिक धर्म का उद्देश्य है—आत्मशुद्धि । वह अहत्तो द्वारा प्रतिपादित है ।

लौकिक धर्म का उद्देश्य है समाज की सुव्यवस्था । उसका प्रवर्तन समाज-शास्त्रियों द्वारा होता है । फिर भी अध्यात्म सामाजिकता का विरोधी नहीं है । वह उसे स्वस्पष्टता प्रदान करता है ।

इन दोनों का उद्देश्य है—व्यक्ति घर-परिवार में रहता हुआ भी श्रेष्ठ धार्मिक जीवन जी सके तथा उन क्षमताओं का अंजन कर सके, जिससे लक्ष्यात्म की ऊँचाई को छूँ जा सके । स्वम्य और सतुलित समाज की संरचना में भी इन दोनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है । हिंसा, सग्रह और भोग की अति सामाजिक विषमता और अज्ञाति को जन्म देती है । उक्त व्रतों की भावना में इन प्रेरणात्मक समस्याओं का समाधान निहित है ।

इन व्रतों का आधार कोरा सिद्धान्तवाद या आदर्शवाद नहीं है, अपितु ये व्यवहार की उर्वरा में पल्लवित हुए हैं। ये सामाजिक जीवन की उच्चता और वैयक्तिक पवित्रता का स्थिर आधार प्रस्तुत करते हैं। आंतरिक पवित्रता के साथ व्यवहार-शुद्धि भी इन व्रतों से फलित होती है।

ध्यान शतक में लिखा है—“तम्हा आराहए दुवे लोए” धार्मिक व्यक्ति धर्म के द्वारा वर्तमान जीवन और भावी जीवन दोनों की आराधना करता है। धर्म का पारलौकिक फल है—स्वर्ग या मोक्ष तथा इहलौकिक फल है—कषाय-मुक्ति, व्यवहार-शुद्धि।

जैन जीवन-प्रणाली का फलित है—जैन श्रावक धर्म की आराधना करता हुआ, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जिम्मेदारियों से विमुख नहीं हो सकता, पर उन भूमिकाओं की शुद्धि के साथ आत्महित की सुरक्षा करना वह अपना परम कर्तव्य मानता है।

वह अपनी अन्तश्चेतना से इतना जुड़ जाता है कि बाहर से लिप्त नहीं होता। व्यवहार में जीता हुआ भी वह अपने केन्द्र चेतना को विस्मृत नहीं करता।

मनुष्य के निर्माता

निकोलाई ओबोतोव

मे लाखों अद्भूत कारतूसों की तरह विधती जाती है और या तो लोग मर जाते हैं या कम से कम उनका वध्यकरण अवश्य हो जाता है, लेकिन इमारतें, पुल, सड़कें आदि ज्यों की त्यों सावत बनी रहती हैं। यद्ध सामग्रियों के परिचामी निर्माता न्यूटन बम की "श्रेष्ठता" और "सम्भावनाओं" पर लट्टू हो रहे हैं और यह मानते हैं कि ध्वंसकारी बस्त्रों के भण्डार में यह एक नया योगदान है।

लोकम ससार के अनेक देश दूसरी ही तरह सोचते हैं। उनका विश्वास है कि न्यूटन बम के निर्माण से नाभिकीय युद्ध का खतरा बढ़ जायेगा। मसलन, भारत के विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने हाल में ससद में कहा कि भारत सरकार न्यूटन बम के निर्माण की जोरदार भर्त्सना करती है।

दुर्लभ अद्भुत, प्रकाश

नी से "जाति नाशक" के शिकार हो सकते हैं। हा, जातिविनाशक। यह एक ढंग का हथियार है जिसके रे में अध्ययन-अनुसन्धान चल रहा है। आपके प्रिय व्यजन में मसाले पडते हैं, उन्ही की द से जातिसहारक अस्त्र आपका पता कर लेगा और आपका मफाया कर देगा। यहां हमारा अभिप्राय विविध जातीय समूहों के लोगों का पता करने और उनका सफाया करने के लिए विशेष रासायनिक, जीविक या अन्य द्रव्यों के इस्तेमाल में है।

विशेषज्ञों की राय है कि 'जातिसहारक' अस्त्र लोगों के खानपान और पहनावे या दोनों के बीच के अन्तर का आसानी से "विवेक" कर सकता है और चिन्दा लोगों का सफाया कर सकता है। यह चयन शक्ति रक्त समूहों, त्वचा के रंगद्वय आदि विशिष्टताओं पर आधारित है।

न्यूटन बम

अभी नद वर्षों पहले तक दम का विकास कर सकना न्यूनता को क्षति पहुंचाये नए प्रकार कर सकता हो, न्यूनता को क्षति पहुंचाये न्यूनता को क्षति पहुंचाये न्यूनता को क्षति पहुंचाये

मनुष्य के अस्त्र का रूप मनुष्य का रूप है। फल-शुद्धि, पहाकरक अस्त्र का रूप मनुष्य का रूप है।

आनुवंशिक अस्त्र

पश्चिमी समाचारपत्रों की खबरो से पता चलता है कि तथाकथित आनुवंशिकास्त्रों के विकास के लिए भी अनुसंधान कार्य चल रहा है। इसके प्रयोग से पतृकता की यंत्रविधि छिन्न-भिन्न हो जायेगी। मनुष्य के पिण्यसूत्रों या जीन को प्रभावित करके, जो पतृकता या आनुवंशिकता के वाहक और मानव जीवों की प्रक्रियाओं के मुख्य नियामक हैं, शरीर को देखने, सुनने, चलने-फिरने और हिलने-डुलने, सांस लेने, सोचने-विचारने आदि की किसी भी जीवत्त क्रिया को अस्त-व्यस्त किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को यत्रमानव में बदला जा सकता है।

विज्ञान और प्रविधि के उन क्षेत्रों की यह एक अधूरी सूची है जिनके विकास से निकट भविष्य में ही सामूहिक विनाश के सर्वथा नये प्रकार के अस्त्र और उनकी प्रणालियां तैयार की जा सकती हैं। जागरूक है ससार के किसी

क्रम सामान्य व्यवहार का रूप लेते जा रहे हैं। सामूहिक रूप से पूर्व-पश्चिम व्यापार को, इसी प्रकार, और अधिक प्रोत्साहन मिला है। सूचना के और अधिक अच्छे ढंग से विनिमय के लिए हेलिसिकी में तय किये गये कदमों के कार्यान्वयन में भी प्रगति हुई है।

सोवियत संघ खूबी के साथ उन विश्वास-निर्माण सम्बन्धी कार्यों पर धमल कर रहा है जिनकी अन्तिम दस्तावेज में व्यवस्था है।

सैनिक तनाव-शीथल्य का मार्ग प्रशस्त करने के बारे में सोवियत संघ को रख मध्य यूरोप में सशस्त्र सेनाओं तथा शस्त्रास्त्रों में कटाती के बारे में ठोस समझौता करने की उसकी तत्परता से उत्पन्न होता है।

नकारात्मक प्रभाव दूसरी तरफ यह स्वीकार किया को कार्यान्वित

हुस्नापा आगाखी अ

- * भारतीय स्वतंत्रता को ३०वीं जयन्ती।
- * शान्ति, मंत्री और सहयोग की सन्धि की ६ मगाने के लिए युवक दर्पण, एक ३२ अंक के रूप में प्रकाशित करेगा। इस समय अंक * भारत-सोवियत सहयोग के विभिन्न क्षेत्रों अनेक दिग्दर्शक लेख।

जैन जीवन-प्रणाली (२) जैन मुनि की आचार-संहिता

भारतीय संस्कृति और संन्यास

विश्व में तीन संस्कृतियाँ प्रभावशाली मानी जाती हैं—

१ यूनानी संस्कृति, २ भारतीय संस्कृति और ३ चीनी संस्कृति ।

पहली समाज प्रधान, दूसरी व्यक्ति प्रधान और तीसरी परिवार प्रधान संस्कृति रही है । संन्यास का प्रादुर्भाव व्यक्ति प्रधान संस्कृति से हुआ । यह भारतीय संस्कृति का महान् अवदान है । भारतीय संस्कृति की मुख्य तीन धाराएँ हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन । जैन साहित्य में व्यक्तिवादी स्वर अधिक मुखर हुए । जैसे कि सुख और दुःख अपना-अपना है । कर्मों का कर्त्ता और उनका फल-भोक्ता व्यक्ति स्वयं है । अपने कृत कर्मों का फल व्यक्ति स्वयं भोगता है । फल भोग में किसी की साभेदारी या भागीदारी नहीं चलती । इन अध्यात्म-सूत्रों से प्रेरित हो हजारों-हजारों व्यक्ति आत्महित की साधना में सलग्न हो गए । यही है संन्यास-परम्परा के सूत्रपात की आदि कहानी । वैसे भारतीय संस्कृति की तीनों ही धाराओं में संन्यास की परंपरा रही है । जैनो में संन्यास-दीक्षा जीवन-पर्यन्त होती है, बौद्धों में सावधिक होती है । वैदिकों में प्रारम्भ से दीक्षा (संन्यास) की स्वीकृति नहीं थी । यह जैन धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि वैदिक परम्परा में भी संन्यास को मान्यता मिली । वर्तमान में तीनों ही परम्परा के साधु-संन्यासी हजारों की संख्या में परिद्वजन करते हैं । उन सबकी अपनी-अपनी आचार-संहिता है । अपनी-अपनी विधियाँ हैं ।

जैन-मुनियों की अहिंसा और अपरिग्रह प्रधान आचार-संहिता तथा त्याग-वैराग्य मूलक चर्चा सदा से ही लोक-चेतना को प्रभावित करती रही है ।

जैन मुनि के लिए निर्ग्रन्थ, समण, श्रमण, भिक्षु, अनगर आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो विशेष अर्थों का सवाहक है । निर्ग्रन्थ उनको अकिंपनता का, समण समता का, श्रमण—श्रमशीलता और तपस्विता का, भिक्षु निष्काजीविता का तथा अनगर—निर्मुक्तता का प्रतीक है । जैन मुनि की चर्चा में उत्कृष्ट निःसंगता के दर्शन होते हैं । वे सम्बन्धातीत हैं ।

जैन जीवन-प्रणाली (२) जैन मुनि की आचार-संहिता

भारतीय सस्कृति और संन्यास

विश्व मे तीन सस्कृतियां प्रभावशाली मानी जाती हैं—

१ यूनानी सस्कृति, २ भारतीय सस्कृति और ३ चीनी सस्कृति ।

पहली समाज प्रधान, दूसरी व्यक्ति प्रधान और तीसरी परिवार प्रधान सस्कृति रही है । संन्यास का प्रादुर्भाव व्यक्ति प्रधान सस्कृति से हुआ । यह भारतीय सस्कृति का महान् अवदान है । भारतीय सस्कृति की मुख्य तीन धाराएँ हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन । जैन साहित्य मे व्यक्तिवादी स्वर अधिक मुखर हुए । जैसे कि सुख और दुख अपना-अपना है । कर्मों का कर्त्त और उनका फल-भोक्ता व्यक्ति स्वयं है । अपने कृत कर्मों का फल व्यक्ति स्वयं भोगता है । फल भोग मे किसी की साभेदारी या भागीदारी नहीं चलती । इन अध्यात्म-सूत्रों से प्रेरित हो हजारों-हजारों व्यक्ति आरम्भित की साधना मे सलग्न हो गए । यही है संन्यास-परम्परा के सूत्रपात की आदि कहानी । जैसे भारतीय सस्कृति की तीनों ही धाराओं मे संन्यास की परंपरा रही है । जैनो मे संन्यास-दीक्षा जीवन-पर्यन्त होती है, बौद्धो मे सावधिक होती है । वैदिको मे प्रारम्भ से दीक्षा (संन्यास) की स्वीकृति नहीं थी । यह जैन धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि वैदिक परम्परा मे भी संन्यास को मान्यता मिली । वर्तमान मे तीनों ही परम्परा के साधु-संन्यासी हजारों की संख्या मे परिग्रजन करते हैं । उन सबकी अपनी-अपनी आचार-संहिता है । अपनी-अपनी विधियाँ हैं ।

जैन-मुनियों की अहिंसा और अपरिग्रह प्रधान आचार-संहिता तथा त्याग-वैराग्य मूलक चर्चा सदा से ही लोक-चेतना को प्रभावित करती रही है ।

जैन मुनि के लिए निग्रन्ध, समण, धमण, भिक्षु, जनगार आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो विशेष अर्थों का सञ्चाटक है । निग्रन्ध उनकी अहिंसा का, समण समता का, धमण—धर्मशीलता और तपस्विता का, भिक्षु भिक्षाधीनता का तथा जनगार—निर्मलता का प्रतीक है । जैन मुनियों की रचना मे उत्कृष्ट निष्ठा के दर्शन होते हैं । वे सम्बन्धातीत चेतना के

इन व्रतों का आधार कोरा सिद्धान्तवाद या आदर्शवाद नहीं है, अपितु ये व्यवहार की उर्वरा में पल्लवित हुए हैं। ये सामाजिक जीवन की उच्चता और वैयक्तिक पवित्रता का स्थिर आधार प्रस्तुत करते हैं। आंतरिक पवित्रता के साथ व्यवहार-शुद्धि भी इन व्रतों से फलित होती है।

ध्यान शतक में लिखा है—“तम्हा आराहए दुवे लोए” धार्मिक व्यक्ति धर्म के द्वारा वर्तमान जीवन और भावी जीवन दोनों की आराधना करता है। धर्म का पारलौकिक फल है—स्वर्ग या मोक्ष तथा इहलौकिक फल है—कषाय-मुक्ति, व्यवहार-शुद्धि।

जैन जीवन-प्रणाली का फलित है—जैन श्रावक धर्म की आराधना करता हुआ, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जिम्मेदारियों से विमुख नहीं हो सकता, पर उन भूमिकाओं की शुद्धि के साथ आत्महित की सुरक्षा करना वह अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

वह अपनी अन्तश्चेतना से इतना जुड़ जाता है कि बाहर से लिप्त नहीं होता। व्यवहार में जीता हुआ भी वह अपने केन्द्र चेतना को विस्मृत नहीं करता।

इन व्रतों का आधार कोरा सिद्धान्तवाद या आदर्शवाद नहीं है, अपितु ये व्यवहार की उर्वरा में पल्लवित हुए हैं। ये सामाजिक जीवन की उच्चता और वैयक्तिक पवित्रता का स्थिर आधार प्रस्तुत करते हैं। आंतरिक पवित्रता के साथ व्यवहार-शुद्धि भी इन व्रतों से फलित होती है।

ध्यान शतक में लिखा है—“तम्हा आराहए दुवे लोए” धार्मिक व्यक्ति धर्म के द्वारा वर्तमान जीवन और भावी जीवन दोनों की आराधना करता है। धर्म का पारलौकिक फल है—स्वर्ग या मोक्ष तथा इहलौकिक फल है—कषाय-मुक्ति, व्यवहार-शुद्धि।

जैन जीवन-प्रणाली का फलित है—जैन श्रावक धर्म की आराधना करता हुआ, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जिम्मेदारियों से विमुख नहीं हो सकता, पर उन भूमिकाओं की शुद्धि के साथ आत्महित की सुरक्षा करना वह अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

वह अपनी अन्तश्चेतना से इतना जुड़ जाता है कि बाहर से लिप्त नहीं होता। व्यवहार में जीता हुआ भी वह अपने केन्द्र चेतना को विस्मृत नहीं करता।

जैन जीवन-प्रणाली (२) जैन मुनि की आचार-संहिता

भारतीय संस्कृति और सन्यास

विश्व में तीन संस्कृतियाँ प्रभावशाली मानी जाती हैं—

१ यूनानी संस्कृति, २ भारतीय संस्कृति और ३ चीनी संस्कृति ।

पहली समाज प्रधान, दूसरी व्यक्ति प्रधान और तीसरी परिवार प्रधान संस्कृति रही है । सन्यास का प्रादुर्भाव व्यक्ति प्रधान संस्कृति से हुआ । यह भारतीय संस्कृति का महान् अवदान है । भारतीय संस्कृति की मुख्य तीन धाराएँ हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन । जैन साहित्य में व्यक्तिवादी स्वर अधिक मुखर हुए । जैसे कि सुख और दुःख अपना-अपना है । कर्मों का कर्ता और उनका फल-भोक्ता व्यक्ति स्वयं है । अपने कृत कर्मों का फल व्यक्ति स्वयं भोगता है । फल भोग में किसी की साभेदारी या भागीदारी नहीं चलती । इन अध्यात्म-सूत्रों से प्रेरित हो हजारों-हजारों व्यक्ति आत्महित की साधना में सलग्न हो गए । यही है सन्यास-परम्परा के सूत्रपात की आदि कहानी । वैसे भारतीय संस्कृति की तीनों ही धाराओं में सन्यास की परंपरा रही है । जैनो में सन्यास-दीक्षा जीवन-पर्यन्त होती है, बौद्धों में सावधिक होती है । वैदिकों में प्रारम्भ से दीक्षा (सन्यास) की स्वीकृति नहीं थी । यह जैन धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि वैदिक परम्परा में भी सन्यास को मान्यता मिली । वर्तमान में तीनों ही परम्परा के साधु-सन्यासी हजारों की संख्या में परिवर्द्धन करते हैं । उन सबकी अपनी-अपनी आचार-संहिता है । अपनी-अपनी विधियाँ हैं ।

जैन-मुनियों की अहिंसा और अपरिग्रह प्रधान आचार-संहिता तथा त्याग-वैराग्य मूलक चर्चा सदा से ही लोक-चेतना को प्रभावित करती रही है ।

जैन मुनि के लिए निर्ग्रन्थ, समण, श्रमण, भिक्षु, अनगार आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो विशेष अर्थों का सवाहक है । निर्ग्रन्थ उनकी अकिंचनता का, समण समता का, श्रमण—श्रमशीलता और तपस्विता का, भिक्षु भिक्षाजीविता का तथा अनगार—निर्मुक्तता का प्रतीक है । जैन मुनियों की चर्चा में उत्कृष्ट निःसंगता के दर्शन होते हैं । वे सम्वन्धातीत चेतना के

जागरण द्वारा अनेकता में एकता के जीवन्त उदाहरण हैं। वस्तुतः जिन रागात्मक सम्बन्धों के आधार पर परिवार या समाज का निर्माण होता है, उन सम्बन्धों का विच्छेद ही सन्यास या दीक्षा है। यह व्यक्ति-प्रधान संस्कृति की पराकाष्ठा है। धर्म व्यक्तिगत तत्त्व है, पर उसकी साधना से समूह प्रभावित होता है, सामूहिक चेतना जागती है, इसलिए वह समूहगत भी होता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने पहली बार धर्म-साधना को सामूहिक रूप दिया। श्रमण-संघ की स्थापना की। भगवान् महावीर ने उसका उदात्तीकरण किया। इसी का परिणाम है कि आज भी जैन मुनि बड़े-बड़े संघों में रहते हुए आत्म-साधना के पथ पर निर्बाध आगे बढ़ रहे हैं।

जैन मुनि का आचार

एक बार किसी नगर के उद्यान में महान् ज्ञानी अध्यात्म दृष्टि-सम्पन्न, सयम और तप में लीन, अहत-प्रवचन के ममज्ञ प्रतापी जेनाचार्य का आगमन हुआ। तत्कालीन राजा, राज्यमंत्री, ब्राह्मण-विद्वान्, क्षत्रिय वर्ग आदि हजारों श्रोताओं ने उनका धर्म-प्रवचन सुना। उनकी जिज्ञासा जागी। प्रवचन के उपरांत उन्होंने पूछा—भन्ते ! हम जैन मुनि के आचार के विषय में विस्तार से जानना चाहते हैं। आपको कष्ट न हो तो बताने का अनुग्रह करें।

आचार्य ने उनकी जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा—मोक्षार्थी निर्ग्रन्थों का आचार बहुत कठोर है, दुश्चीर्ण है। इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के सिवाय कहीं नहीं मिलता। जैन आचार-शास्त्र के मौलिक नियम बालक, युवा, वृद्ध, स्वस्थ, अस्वस्थ सभी श्रमणों के लिए समान रूप से लागू होते हैं, उन्हें उनका अखंड पालन करना होता है।

मुनि का अर्थ है ज्ञानी। ज्ञान का सार है आचार। आचार का पहला सोपान है—समस्त प्राणियों के प्रति आत्मतुला की दृष्टि, आत्मत्व की अनुभूति। आचार का अन्तिम लक्ष्य है—आत्म-स्वरूप में अवस्थित होना, समस्त कर्मों से मुक्त हो आत्मा के चैतन्य स्वरूप में रमण करना, मोक्ष को प्राप्त करना।

इनकी सिद्धि के लिए वे पांच महाव्रतात्मक आचार को स्वीकार करते हैं।^१

पांच महाव्रत

१ अहिंसा महाव्रत—मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा का पालन करना। अहिंसा का फलित है—समता और मंत्री। अहिंसा का सीधाय अर्थ है सब प्राणियों के प्रति सयम। जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और मानव की

हिंसा तो दूर, जैन मुनि पेड़-पौधो आदि सूक्ष्म जीवो की हिंसा भी नहीं करते। जैन तत्त्व विद्या के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति को भी सजीव माना गया है। इन स्थावर जीवो को भी कष्ट न हो, इस दृष्टि से जैन मुनि सदा जागरूक रहते हैं। वे धरती का दोहन नहीं करते; नदी आदि के कच्चे जल का उपयोग नहीं करते हैं, जल को गन्दा नहीं करते, आग नहीं जलाते, हवा को दूषित नहीं करते, हरियाली को काटना तो दूर उसे पांवा से भी नहीं कुचलते। सीधे शब्दो मे कहे तो वे सहज जीवन जीते हैं, प्रकृति की छेड़छाड़ नहीं करते। अहिंसक वृत्ति के कारण किसी प्रकार का प्रदूषण फैलाकर पर्यावरण को क्षति नहीं पहुँचाते। इसलिए कहा जा सकता है कि जैन मुनि न केवल मनुष्य जाति के अपितु सम्पूर्ण चराचर जगत के रक्षक हैं, त्राता हैं।

२. सत्य महाव्रत—मानसिक, वाचिक और कायिक ऋजुता का विकास तथा अविस्वादन योग का अभ्यास। जैन मुनि किसी भी परिस्थिति में असत्य का सहारा नहीं लेते। असत्य भाषा का प्रयोग नहीं करते। असत्य बोलने के हेतु हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। मुनि इनका वर्जन करते हैं। वे किसी को आघात या कष्ट पहुँचाने वाला, आपसी वैर-विरोध, तनाव या मन-मुटाव बढ़ाने वाला, हिंसा का निमित्त बनने वाला कठोर और निश्चयात्मक शब्द नहीं बोलते। सत्य-महाव्रत के दो सुरक्षा प्रहरी हैं—वाणी का सयम और भाषा-विवेक। अविवेकपूर्ण और असयत वाणी का प्रयोग अनर्थ का कारण बन जाता है।

३ अचौर्य महाव्रत—स्वामी की अनुमति के बिना अल्पमूल्य या बहु-मूल्य वस्तु का ग्रहण न करना तथा देव, गुरु और धर्म की आज्ञा का अतिक्रमण न करना।

बिना आज्ञा किसी के मकान मे रहना, किसी वस्तु का उपभोग करना, अभिभावको की अनुमति बिना किसी व्यक्ति को दीक्षित करना—ये कार्य जैन आचार शास्त्र सम्मत नहीं हैं।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत—मन, वाणी और शरीर की पवित्रता का विकास, वासना-विजय, आत्म-रमण। अब्रह्मचर्य घोर प्रमाद है। सयम और चरित्र का नाश करने वाला है। जैन मुनि पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए वे खाद्य-सयम, दृष्टि-सयम और स्मृति-सयम की साधना करते हैं। वासना को उत्तेजित करने वाले ससर्ग, पहनावा, चर्चा और वैसे साहित्य से स्वयं को बचाते हैं। साधु-साध्विया क्रमशः स्त्री और पुरुष का स्पर्श तक नहीं करते। उनके साथ एक आसन पर नहीं बैठते, एकांत मे बातचीत नहीं करते। क्योंकि साधना के प्रारम्भ मे निमित्तो से बचना आवश्यक हो जाता है।

५. अपरिग्रह महाव्रत—सग्रह-त्याग, समत्व-विसर्जन ।

जैन-मुनि अकिंचन होते हैं। वे सोना-चादी, रुपये-पैसे नहीं रखते। किसी प्रकार का बैंक-बैलेंस नहीं रखते। जमीन-जायदाद नहीं रखते। यहां तक कि दूसरे दिन के लिए भी खाद्य-पेय पदार्थों का सग्रह नहीं करते। कबीरजी ने भी इसके समर्थन में लिखा है—

साधु हो संग्रह करे, दूजे दिन का नीर ।

तरे न तारे जगत् को, कह गये दास कबीर ॥

६. रात्रि-भोजन-वर्जन—जैन-आगमो में रात्रि-भोजन का त्याग—

छठा व्रत माना गया है। जैन मुनि पाच महाव्रतों की भांति रात्रि-भोजन-विरमण व्रत का भी पूरी निष्ठा के साथ पालन करते हैं। वे रात्रि में किसी प्रकार के खाद्य-पेय पदार्थ और औषध का सेवन नहीं करते। यह बहुत बड़ा तप है।

उक्त पाच महाव्रत जैन मुनि की साधना का मूल आधार है। इनकी पुष्टि और सिद्धि के लिए उन्हें सतत जागरूक प्रयत्न करना होता है। बार-बार अभ्यास करना होता है। प्रत्येक महाव्रत की आराधना के लिए जैन-शास्त्रों में पाच-पाच अभ्यास-विन्दु निर्दिष्ट हैं, जिन्हें भावना कहते हैं।

जैन-परम्परा में पाच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ सुप्रसिद्ध हैं, जैसे—

१. अहिंसा महाव्रत की पाच भावनाएँ—१. चलने में जागरूकता, २. मन का सयम, ३. वाणी का सयम, ४. धर्मोपकरणों के व्यवहार में जागरूकता, ५. आहार-शुद्धि का विवेक।

२. सत्य महाव्रत की पाच भावनाएँ—१. वाणी का विवेक, २-५. क्रोध, लोभ, भय और हास्य का वर्जन।

३. अचौर्य महाव्रत की पाच भावनाएँ—१. याचना का विवेक, २. उपभोग का विवेक, ३. परिमित पदार्थों का स्वीकरण, ४. उनकी सीमा का निर्धारण, ५. साधर्मिकों से याचना का विवेक।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाच भावनाएँ—१. एकान्तवास, २. वैषयिक कथा का वर्जन, ३. चक्षु-सयम, ४. स्मृति-सयम, ५. अतिमात्र/प्रणीत भोजन का वर्जन।

५. अपरिग्रह महाव्रत की पाच भावनाएँ—१-५. पाचो इन्द्रियों का सयम तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों के प्रति समता की साधना।

महाव्रतों की सुरक्षा के लिए पांच समितियों और तीन गुप्तियों के पालन का प्रावधान है। ये जिन-शासन में आठ प्रवचन-माता के नाम से विख्यात हैं। समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवृत्ति, विवेकपूर्ण प्रवृत्ति। वे पाच हैं—

- १ ईर्या-समिति—गमन योग, युग-प्रमित भूमि को देखकर चलना ।
- २ भाषा-समिति—वचन-योग, विवेकपूर्वक निरवध भाषा बोलना ।
- ३ एषणा-समिति—निर्दोष-भिक्षा का ग्रहण तथा अनासक्त भाव से आहार करना ।

४ आदान-निक्षेप-समिति—उपकरणों को लेने व रखने में सावधानी रखना ।

५ उत्सर्ग-समिति—उत्सर्ग-विधि में विवेक रखना ।

मनुष्य की जीवन-यात्रा के मुख्य पांच व्यवहार हैं—चलना, बोलना, खाना, वस्तुओं का उपयोग करना और उत्सर्ग करना । इन प्रवृत्तियों के आधार पर व्यक्ति के अन्तरंग और बाह्य व्यक्तित्व को परखा जा सकता है । एक मुनि की जीवन-शैली गृहस्थ की जीवन-शैली से सर्वथा भिन्न होनी चाहिए । समितियाँ उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का पैरामीटर बन सकती हैं ।

साधना की दृष्टि में सम्यक् प्रवृत्ति ही पर्याप्त नहीं है, उसकी तेजस्विता और प्रभावोत्पादकता के लिए निवृत्ति का मूल्य भी कम नहीं है । जैन साधना मूलतः निवृत्ति प्रधान है । निर्वर्ण-प्रधान है । उसके लिए त्रिगुप्ति की साधना आवश्यक है । गुप्ति का अर्थ है—सत् और असत्—दोनों प्रकार की प्रवृत्ति का निरोध । तीन गुप्तियाँ ये हैं—

(१) मनगुप्ति—मानसिक प्रवृत्तियों का सयम या निरोध ।

(२) वचनगुप्ति—वाणी का सयम या निरोध ।

(३) कायगुप्ति—कायिक चेष्टाओं का सयम या निरोध ।

प्रत्येक जैन मुनि के लिए पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति—इन तेरह नियमों का पालन करना अनिवार्य है । इन तेरह नियमों के आधार पर अन्य भी अनेक प्रकार के नियमों-उपनियमों का विकास हुआ है ।

जैन धर्म के महान् प्रवक्ता आचार्य प्रवर के मुह से जैन मुनियों के आचार के विषय में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर श्रोताओं ने कृतार्थता का अनुभव किया । जैन-श्रमणों की तपस्विता और आचार-निष्ठा के प्रति उनके मन में आस्था का भाव जागा । उनका माथा अनायास झुक गया उनके अलौकिक त्याग के प्रति । उनके जिज्ञासु भाव ने अध्यात्म के सुमेरु जैनाचार्य से बराबर सपर्क बनाए रखने को विवश किया । इस दौरान जैन मुनि के आचार की अनेक वारीकियाँ श्रुति के वातायन से उनकी चेतना के लोक में प्रविष्ट हुईं । जैसे—

जैन मुनि अनगार होते हैं । उनका अपना कही मकान नहीं होता ।

जहा जाते हैं, वही व्यक्तिगत, सार्वजनिक या सरकारी जो भी स्थान मिले, अधिकारियों की अनुमति पूर्वक रह जाते हैं। त्याग का उत्कृष्ट नमूना है अनगार वृत्ति।

आधुनिक मनोविज्ञान के प्रवर्तक फ्रायड के अनुसार प्राणी की मौलिक वृत्ति है 'काम'। भगवान महावीर की दृष्टि में प्राणी की मौलिक वृत्ति है लोभ—परिग्रह। 'काम' को कामना के रूप में स्वीकार करें तो दोनो विचारों में सवादिता हो सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में नई खोज की है। उसकी मान्यता से प्राणी की मौलिक वृत्ति है अधिकार की भावना। छोटे से छोटे प्राणी में अपने घर के प्रति प्रबल अधिकार की भावना होती है। उसको त्याग देना कठिन काम है। जैन मुनि का आदर्श है—निर्ग्रन्थता, अकिंचनता। उसकी साधना के लिए वह सबसे पहले इसी अधिकार-वृत्ति पर प्रहार करता है। अगार (घर) को त्याग अनगार बन जाता है।

वृत्ति-परिष्कार की यात्रा में बहुत ही अर्थवान बन जाता है अनगार शब्द।

◦ जैन मुनियों का जीवन-व्रत है—पदयात्रा। वे जब अपना सामान कंधों पर लिए, नगरे पाव, गाव-गाव और नगर-नगर में धर्म की महाज्योति लिए पहुंचते हैं तो लगता है श्रमण-संस्कृति का परम पुद्गलपार्थ देह-धारण कर अज्ञान और आलस्य के तमस को समाप्त कर रहा है।

◦ जैन-मुनि भिक्षा-जीवी होते हैं। उनकी भिक्षा विधि को गोचरी या घाघुकरी वृत्ति कहते हैं। वे एक ही घर से भिक्षा नहीं लेते। अनेक घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेते हैं, जिससे उनका काम भी चल जाए और गृहस्थ को भी भार महसूस न हो। वे गृहस्थ के लिए जो सहज निर्मित भोजन होता है, उसे ग्रहण कर लेते हैं। नैमित्तिक आहार नहीं लेते।

◦ वे शुद्ध सात्त्विक भोजन ग्रहण कर अहिंसात्मक तरीके से जीवन-यापन करते हैं। वे मास, अंडे और मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करते।

◦ वे गृहस्थोचित कार्यों में भाग नहीं लेते।

◦ वे किसी राजनैतिक पार्टी का समर्थन या विरोध नहीं करते।

◦ वे सापेक्ष सहयोग लेते हुए भी पूर्ण स्वावलम्बी जीवन जीते हैं।

◦ वे स्वयं ही हरिजन हैं और स्वयं ही महाजन।

◦ उनकी विहार-चर्या प्रशस्त होती है। उनकी चर्या के चार ध्रुव हैं—स्वाध्याय, ध्यान, पवित्रता और तप। उनके आचार-शास्त्रीय नियम इन्हीं ध्रुवों की परिक्रमा करते हैं। यह पवित्र आचार संहिता सदियों—सहस्राब्दियों से जैन श्रमण सघों को प्राणवान बनाए हुए है। यही समस्त सत-परम्परा की जीवन्तता का आधार है।

युगीन समस्याओ के सदर्थ मे जैन मुनि के आचार की एक-एक धारा का विश्लेषण करें तो हम पाएगे कि उनके प्रत्येक विधि-निषेध के पीछे गूढ़ वैज्ञानिक दृष्टिकोण रहा है। इसीलिए वर्तमान के परिप्रेक्ष्य मे उसका व्यापक महत्त्व है। इसके आचरण और अनुशीलन मे समूची मानव-जाति का हित निहित है।

जैन मुनियों की पद-यात्रा और उसकी उपलब्धियां

सन्त और संस्कृति

“ईरान और टर्की के बीच घमासान युद्ध । टर्की की निरन्तर पराजय । एक दिन ईरान के सूफी सत फरिद्दुदीन तुर्कों के हाथ पड गये । जासूसी का आरोप । फासी की सजा सुनाई गई । ईरान का एक घनाढ्य सत के बराबर हीरे-जवाहरात लेकर सत को मुक्त करने की माग करता है । अनेक ईरानी सत के बदले प्राण देने को तैयार हैं । टर्की सब याचनाओ को अस्वीकार कर देता है । आखिर ईरान के शाह टर्की के सुलतान से प्रार्थना करते हैं— ‘आप राज्य ले लें, पर सन्त को छोड दें ।’ सुलतान आश्चर्य-चकित । बात क्या है, जिस राज्य को हम पूरी ताकत के साथ लडकर भी नहीं पा सके, उसे आप एक ‘आदमी’ के बदले हमे सौंप रहे हैं ?

शाह बडी गभीरता के साथ तथ्य को अनावृत करते हुए कहते हैं— राज्य नश्वर है और सत अविनाशी । सत ब्यक्ति नहीं होता, वह सस्कृति का प्रतीक होता है । हमने यदि सत को खो दिया तो ईरान सदा-सदा के लिए कलकित हो जाएगा ।

बात सुलतान की समझ मे आ जाती है—जिस देश मे सतो का इतना सम्मान, उसे कौन पराजित कर सकता है । सत की वापसी के साथ ही दोनो देशो के मध्य युद्ध-चिराम की घोषणा हो जाती है ।

यह घटना-प्रसंग सत-परम्परा की सार्थकता को उजागर कर रहा है । आचार्य जिनदास महत्तर लिखते हैं—

“विविह कुलुप्पणा साहवो कल्पवृक्षा”

सत-जन विविध कुलो मे उत्पन्न धरती के कल्पवृक्ष हैं । इससे भी आगे बढ़ें तो लगता है, मानवता के लिए कल्पवृक्ष से भी अधिक वरदायी और महिमामय हैं सन्त ।

सन्तो का न निश्चित एक वेष होता है, न देश । न एक परिवेश होता है, न कोई स्थान विशेष । वे देते हैं मानव की आध्यात्मिक चेतना को नये उन्मेष और जीवन की दिव्यता का पावन सन्देश ।

वैसे सारे विश्व मे साधु-सतो की अपनी अलग ही अहंता और उपयोगिता है, लेकिन भारतीय सस्कृति का तो प्राण-तत्त्व ही सन्त-परम्परा

संस्कृति की प्रतिष्ठा, प्रसार और पल्लवन के लिए भारतीय लोक-जीवन में सदा से सन्तों की प्रतिष्ठा, वन्दना और अभिवन्दना होती आयी है। आज भी वह निर्मल धारा भारत की धरती के अणु अणु को आप्लावित करती हुई आगे बढ़ रही है। इसलिए भारतीयों के कोटि-कोटि अन्तःकरण श्रद्धा-प्रणत हैं उन अध्यात्म-प्रचेता सतों की निष्काम सेवाओं के प्रति।

सत और परिव्रजन

वैसे तो कोई भी अध्यात्म साधक जहाँ कहीं बैठकर अध्यात्म की धुनी रमाता है, वहाँ के पूरे वातावरण को प्रभावित करता है। उसके शारीरिक और मानसिक पवित्र विकिरणों से समग्र वायु-मण्डल शुद्ध होता है। उसके अन्तःकरण से निरन्तर प्रवाहमान प्रेम, करुणा और मैत्री की धाराएँ प्राणी-जगत् की समस्त चैतन्य कलुषताओं को धो डालती हैं। उनके ऊर्जाकरण वातावरण में ऐसे उर्जस्वल विचार-बलयों को निर्मित करते हैं, जिनमें विलयित विश्व-चेतना ज्ञान, शक्ति और आनन्द के सरोवरों में निमग्न रह सकती है।

जगलो, पहाड़ों और गुफाओं में रहकर ध्यान-साधना करने वाले ऋषि-मुनि भले ही जन-संपर्क से दूर रहे, उनका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अनुदान किसी भी दृष्टि से कम नहीं कहा जा सकता। फिर भी आत्म-कल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण के पवित्र उद्देश्य से उनका परिव्रजन भी सांस्कृतिक उन्नयन और लोक-चेतना के जागरण की दृष्टि से अतिरिक्त मूल्यवत्ता रखता है। क्योंकि समाज को सामाजिक और नैतिक दायित्व का बोध कराना भी साधु-समाज का पवित्र कर्तव्य हो जाता है।

जैन मुनियों का परिव्रजन

प्राचीन काल में सभी सत, भले ही वे जैन मुनि हों या बौद्ध-भिक्षु सन्यासी हों या फकीर, जनता को प्रतिबोध देने या अपने-अपने धर्म का प्रचार करने, पैदल ही एक गाँव से दूसरे गाँव घूमा करते थे। अपनी इस घुमकूट वृत्ति के कारण ही वे परिव्राजक कहलाते थे। किन्तु कालान्तर में परिव्रजन गौण हो गया। अधिकांश साधु-सन्यासी मठों, मन्दिरों, आश्रमों और उपाश्रयों में नियत-वासी हो गए। उनकी सुविधावादी मनोवृत्ति ने अथवा युगीन अपेक्षाओं ने यान-वाहनों के उपयोग को स्वीकृति दे दी। किन्तु जैन मुनियों ने अपने पद-यात्रा-क्रम को कभी उपेक्षित नहीं किया। सुख-सुविधाओं की प्रवाह किए बिना, घोर कष्ट सहन कर जन-कल्याण के लिए अपने आपको समर्पित कर देने वालों में जैन श्रमणों का स्थान अग्रणी है।

पद-यात्रा क्यों ?

जैन मुनि अपरिग्रह के महान् व्रती होते हैं। इसलिए अकिंचन

होते हैं। अकिंचन के लिए अनिकेतन होना जरूरी है और अनिकेतन के लिए परिव्रजन। इसलिए वे नियतवासी न बनकर परिव्रजन करते रहते हैं। जैन मुनियों के लिए प्रयुक्त 'अनगार' शब्द से उनकी यही अनिकेतता ध्वनित होती है।

जैन मुनि पूर्ण अहिंसक होते हैं। अतः वे सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी की हिंसा का वर्जन करते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और हरियाली—ये सारे सूक्ष्म जीवों के पिंड हैं। जैन मुनि इनकी हिंसा से उपरत रहते हैं। वाहनों का प्रयोग करने से उक्त सूक्ष्म-कायिक जीवों की हिंसा से बचा नहीं जा सकता। स्थूल जीवों में भी कीड़े-मकोड़ों से लेकर मनुष्य तक न जाने कितने प्राणी वाहनों की अन्धी दौड़ में कुचल दिए जाते हैं। सूक्ष्म जीवों की हिंसा से भी उपरत रहने वाले अहिंसा-व्रती मुनि ऐसी स्थूल हिंसा के निमित्त भी कैसे बन सकते हैं ?

पाव-पांव चलते हुए भी जैन मुनि ईर्या-समिति—गति-शुद्धिपूर्वक चलते हैं—पथ को देखते हुए चलते हैं, ताकि उनके चलने से पथ-गत सूक्ष्म या स्थूल जीवों का हनन न हो। वाहन से चलते हुए मुनि ईर्या-समिति का पालन नहीं कर सकते। उसके अभाव में उनका अहिंसा महाव्रत खंडित होता है। अतः अहिंसा महाव्रत का सम्यक् पालन करने के लिए जैन मुनि वाहन का प्रयोग नहीं करते।

निष्कर्ष की भाषा में जैन मुनि अहिंसक और अकिंचन—दोनों होते हैं, इसलिए वे पद-यात्रा करते हैं।

पद-यात्रा आगमिक विधान

जैन तीर्थंकरों या मुनियों की चर्या का जहां भी वर्णन आता है, उनके लिए यह विशेष उल्लेख मिलता है—

'गामाणुगाम द्दइज्जमाणे, सुहमुहेण विहरमाणे—एक गाव से दूसरे गाव घूमते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए।' जैन मुनियों के लिए कहीं एक जगह आश्रम बनाकर बैठने का उल्लेख किसी भी प्राचीन और मौलिक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

आगम कहते हैं—“मुनि कारण के बिना एक स्थान में न रहे।” साधु-साध्विया हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में विहार करते रहे। जैन मुनियों का अनियतवास प्रशस्त माना गया है। दशवैकालिक चूर्णि में अगस्त्य स्थविर लिखते हैं—“ . ण णिच्च मेगत्य—वसियव्व किन्तु विहरितव्व”—मुनि नित्य एक स्थान में न रहे, अपितु विहार करते रहे।

विहार की दृष्टि से वर्ष को दो भागों में बाटा गया है—वर्षाकाल और ऋतुबद्धकाल। वर्षाकाल में मुनि एक स्थान में चार मास तक रह

सकता है और ऋतु-बद्ध-काल में एक मास । जैन मुनि के लिए चतुर्मास का काल एक स्थान में रहने का उत्कृष्ट काल है । ऋतुबद्ध-काल में एक स्थान में रहने का उत्कृष्ट समय एक मास है । साध्विया एक स्थान में दो मास तक भी रह सकती हैं । चिकित्सा आदि के अपवादों को छोड़कर जिस स्थान में साधु-साध्विया एक बार उत्कृष्ट समय तक रह चुके होते हैं वहाँ पुन रहने के लिए समय की निश्चित मर्यादाएँ की गई हैं ।

जैन मुनियों की यात्रा के दो रूप हैं—अन्तर्यात्रा और बहिर्यात्रा । पहली चेतना के स्तर पर घाटत होती है और दूसरी का सम्बन्ध है बाह्य-परिवेश से । अन्तर्यात्रा में अन्तश्चेतना अन्तर्जगत् की अन्वेषणा करती है । और बाह्ययात्रा में होता है—धर्म प्रचारार्थं जन-सपर्क का विस्तार । जैन-मुनि इन दोनों ही यात्राओं के माध्यम से जीवन और जगत् के सूक्ष्म, जटिल एवं बहुआयामी पहलुओं को समग्रता से जानने-समझने का प्रयत्न करते हैं ।

पद-यात्रा का आग्रह क्यों ?

आज के बौद्धिक वर्ग का एक ज्वलत प्रश्न है कि कुछ ही क्षणों में समग्र विश्व की परिक्रमा करने वाले द्रुतगामी यान-वाहनों के उपलब्ध होते हुए भी पद-यात्रा का आग्रह कहाँ तक उचित है ? क्या इससे समय और शक्ति का अपव्यय नहीं होता ?

प्रश्न अवश्य चिन्तनीय है । किन्तु अपनी लम्बी-लम्बी यात्राओं के माध्यम से विश्व-भ्रमण के नए कीर्तिमान स्थापित करना ही यदि जैन-भ्रमणों का उद्देश्य होता तो इस दिशा में बहुत पहले ही कोई क्रांतिकारी कदम उठाया जा सकता था, लेकिन जैन-मुनियों का विहार तो वही तक अनुमत है, जहाँ तक उनकी साधना अक्षुण्ण रहे । उनके परिव्रजन से ज्ञान दशन और चारित्र-सम्पदा की अभिवृद्धि हो । अपने व्रतों को उपेक्षित कर मात्र जनकल्याण को प्रमुखता देने को वे आत्म-प्रवचना ही मानते हैं । यान-यात्रा जहाँ एक ओर महाव्रतों की सूक्ष्म धाराओं के साथ असंगत है वहाँ दूसरी ओर साधक में 'सुविधावादी' मनोवृत्ति का बीज-वपन भी कर देती है, जो उसकी सारी साधना को ही खोखली बना सकती है ।

दूसरी बात वाहनों से यात्रा करने में वह आनन्द नहीं आता, जो पदयात्रा में उपलब्ध होता है । वाहनों द्वारा तो मनुष्य ढोया जाता है । वहाँ उसकी स्वतंत्रता छिन जाती है । वाहनों की निर्भरता से उसे कहीं अनचाहे रुकना होता है, ता कहीं चाहने पर भी अनेक दृश्यों और स्थानों को अनदेखा ही छोड़ना पड़ता है । प्रकृति और मनुष्य के साथ सीधा-सपर्क भी पद-यात्रा से ही सम्भव हो सकता है । पद-यात्रा में स्व-निर्भरता के साथ अनुभूतियों में भी प्रवणता आती है । भौगोलिक और सांस्कृतिक स्थितियों के आकलन

के साथ आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों की भी सम्यक् जानकारी मिलती है। समाज के पिछड़े और मध्यम वर्ग से व्यक्तिगत सम्पर्क होने के कारण सामाजिक स्थितियों का यथार्थ रेखा-चित्र अंकित किया जा सकता है। इन सब सदर्थों में भागने से पदयात्रा का महत्त्व सहज समझ में आ सकता है।

परिव्रजन का उद्देश्य

जैन-मुनियों के विहार का उद्देश्य मात्र पर्यटन या विश्व-दर्शन नहीं होता। उनका उद्देश्य है—जन-जन की अन्तश्चिंतना के साथ तादात्म्य स्थापित करना। उनकी वृत्तियों और प्रवृत्तियों का सूक्ष्मता से अध्ययन और मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण कर उनकी समस्याओं का स्थायी समाधान प्रस्तुत करना। उन्हें नियंत्रित और सतुलित जीवन जीने की प्रेरणा देना।

जैन-मुनि पाव-पाव चल कर सूरज की तरह गाव-गाव और घर-घर में नैतिकता और आध्यात्मिकता की रोशनी फैलाना चाहते हैं।

वे इसी धरती की मिट्टी में चरित्रनिष्ठ और परिपूर्ण व्यक्तित्वों की फसल उगाना चाहते हैं, न कि आकाशमार्ग से किसी दिव्य-ज्योति का अवतरण। यह सब पद-यात्रा के द्वारा जन-सामान्य के साथ सम्पर्क-साधने से सहज संभव हो सकता है।

जैन-मुनि भ्रमणशील होते हैं। आज यहाँ तो कल वहाँ। न कोई स्थान, न मकान। हाँ वे जहाँ पड़ाव डालते हैं, वही उनका मकान बन जाता है। 'वताये क्या अपना नामो स्थान, जहाँ ठहरें, वही अपना मकान।' कितना सुख होता है इस फकीरी में। ममत्व-मुक्ति की इस साधना में न कोई व्यक्ति बाधक बनता है, न स्थान। इप अनियत-वास के कारण न किसी व्यक्ति के साथ उनके रागात्मक सबंध जुड़ते हैं, न क्षेत्र-विशेष के साथ। इसीलिए वे वायुवत् अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं।

जिनके अपना कोई घर-द्वार नहीं होता, वे अनावश्यक वस्तु-संग्रह से सहज ही वंच जाते हैं।

जैन-मुनि वाहन का प्रयोग नहीं करते, न बैठने के लिए, न भार ढोने के लिए। वे अपना सामान अपने कंधों पर ही लेकर चलते हैं, इसलिए वे उतना ही सामान रखते हैं जितने की अनिवार्य अपेक्षा होती है। इससे उनका लाघव-धर्म पुष्ट होता है।

ब्रह्मचर्य की साधना में भी पाद-विहार सहयोगी बनता है। 'आयारो' में उल्लेख है—कदाचित् मुनि का मन वासना से आक्रांत हो जाए, तो वह खाद्य समय, वासन, कायोत्सर्ग, खड़े-खड़े ध्यान आदि उपायों से उसे समाहित करने का प्रयत्न करे। यदि इन समय उपायों से भी मन स्थिर और

आत्मस्थ न हो, तो फिर वह 'गामाणुगाम विहरेज्जा'—ग्रामानुग्राम विहार करना प्रारम्भ कर दे। मन स्वस्थ हो जाएगा।

किसी भी देश की सस्कृति का मूल रूप गावों में ही सुरक्षित रहता है। भारत की जनसंख्या का अधिकांश भाग तो गावों में ही रहता है। मुनियों के पाद-विहार से कोटि-कोटि ग्रामीण जनता लाभान्वित होती है और सांस्कृतिक चेतना के उन्नयन के नये आयाम उपलब्ध होते हैं।

जन-जीवन में धर्म का आलोक विखेरने के उद्देश्य से की गई जैन-मुनियों की पद-यात्राएँ मानव-जीवन के अवरोध, कुण्ठा और कसक को धोकर उसे अनन्त आनन्द की दिशा में यात्रायित करती हैं।

जैन-मुनियों के पाद-विहार का इतिहास बताता है कि वे जहाँ—जिस प्रांत में गये, वहाँ की सभ्यता, सस्कृति और परम्पराओं का उन्होंने सूक्ष्मता से अध्ययन किया। वहाँ के आचार, विचार, व्यवहार और लोक-जीवन में वे घुल मिल गये। वहाँ की भाषा सीखी। वे उसी भाषा में बोले और उसी भाषा में साहित्य सृजन किया। फलतः वे जहाँ गये, जहाँ रहे, वहाँ की जनता के साथ उन्होंने आत्मीय-सम्बन्ध स्थापित कर लिए। इसी-लिए उन्हें वहाँ-वहाँ की धरती को उर्वर बनाने और जैन-संस्कारों की फसल उगाने में अभूतपूर्व सफलता मिली। भारत की विविध-प्रांतीय भाषाओं में जैन-मनीषियों द्वारा रचित साहित्य जितनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, उतना अन्य धर्माचार्यों या मनीषियों द्वारा लिखित उपलब्ध नहीं होता। जैनाचार्यों और जैन श्रमण-श्रमणियों का यह विपुल साहित्यिक अनुदान भी उनकी पद-यात्राओं की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

जैनाचार्यों की ऐतिहासिक पद-यात्राओं ने विविध सस्कृतियों के मध्य सेतु का काम भी किया है। भारत की विविध-प्रांतीय जनता की भाव-धारा को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक समन्वय के धागे से जोड़ा है।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि जैन-धर्म के सभी तीर्थंकरों का जन्म उत्तर भारत में हुआ और उनकी वाणी को विशदरूप देने वाले अनेक महान् आचार्यों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ भारत के दक्षिणी अंचल को। भगवान् महावीर की परम्परा में अनेक यशस्वी आचार्यों—कुन्दकुन्द, अकलक, पूज्यपाद, समन्तभद्र, विद्यानन्दि, नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती आदि का जन्म दक्षिण भारत में ही हुआ था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैन मुनि जैन-धर्म और दर्शन की दिव्य ज्योति लेकर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक पहुँचे, वहाँ घूम-घूमकर उन्होंने अध्यात्म की अलख जगाई और महावीर-वाणी की दिव्यता से लोक-चेतना को आप्लावित किया। यह सारा श्रेय उनकी पद-यात्राओं को ही दिया जा सकता है।

जैन-श्रमणों ने अपनी पद-यात्राओं से जहाँ बहुत कुछ पाया है, वहाँ कुछ उपलब्धियों से उन्हें वंचित भी रहना पड़ा है। चर्चा के कठोर नियमों के कारण उनके विहार क्षेत्रों का परिसीमन हो गया। वे व्यापक रूप से विदेशों में नहीं जा सके। इसलिए वहाँ जैन-धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार भी नहीं हो सका। हालाँकि प्राचीन समय में जैन श्रमण बहुत बड़ी संख्या में विदेशों में विहार करते थे, ऐसा अनेक ठोस प्रमाणों के आधार पर सिद्ध हो चुका है।

अनेक विद्वानों का अभिमत है कि भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य देशों में विहार किया था। उनके शिष्य श्रमण भी भारी संख्या में विदेशों में घूमते थे।

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रायः अफगानिस्तान में विपुल संख्या में जैन-श्रमण विहार करते थे।

ई० पू० २५ में पांड्य राजा ने अगस्टस सीजर के दरबार में दूत भेजे थे। उनके साथ श्रमण भी यूनान गये थे।

विद्वान् इतिहास-लेखक जी० एफ० मूर के अनुसार ईसा पूर्व इराक, श्याम और फिलीस्तीन में जैन मुनि सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे। वे अपने त्याग और विद्या के लिये प्रसिद्ध थे। वे साधु वस्त्रों तक का परित्याग किये हुए थे।

यूनानी लेखक मिश्र, एबीसीनिया और इथ्यूपिया में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।

इस प्रकार मध्य एशिया में जैन-धर्म या श्रमण-संस्कृति का काफी प्रभाव था। उससे वहाँ के धर्म भी प्रभावित हुए थे।

जावा, सुमात्रा और लका में भी जैन-मुनियों के विहार का उल्लेख मिलता है।

इससे हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि एक समय ऐसा था, जब हिन्दुस्तान के बाहर के देशों में जैन-मुनि पहुँचे थे और वहाँ जैन-धर्म का अच्छा प्रसार हुआ था। कालांतर में जैन-श्रमणों की उपेक्षा या अन्यान्य परिस्थितियों के कारण सुदूर देशों की पद-यात्राओं का वह क्रम स्थायित्व नहीं पा सका।

लेकिन भारत में लगभग सभी प्रांतों में आज भी सभी जैन-सम्प्रदायों के साधु-साध्वियाँ उसी रूप में भ्रमण करते हैं और जन-जीवन को जागृति का संदेश देते हैं।

अणुव्रत अनुशास्ता युगप्रधान गुरुदेवश्री तुलसी ने स्वयं लगभग सत्तर हजार कि. मी की पद-यात्रा कर संपूर्ण देश की आध्यात्मिक और

नैतिक चेतना को पुनर्जीवित किया है ।

गुरुदेवश्री ने अपने लगभग सात सौ साधु-साध्वियों को देश के नैतिक और चारित्रिक जागरण के पवित्र अनुष्ठान के लिए समर्पित कर रखा है । वे भारत के सभी प्रांतों तथा उसके पड़ोसी देशों—नेपाल, भूटान सिन्धुतक तक पहुंचते हैं और जैन-धर्म तथा अणुव्रत के संदेश को घर-घर पहुंचाते हैं ।

गुरुदेवश्री तथा उनके शिष्य-शिष्याओं की पद-यात्रा के मुख्य उद्देश्य हैं—धर्मक्रांति, धर्म-समन्वय और नैतिक-जागरण ।

महान् उद्देश्य से की गई और की जा रही उनकी महान् पद-यात्राओं ने देश भर में आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा में अद्भुत सफलता प्राप्त की है और उनके भविष्य में सन्निहित है लोक-मंगल की अनन्त-अनन्त सभावनाएँ ।

आगम वाचना : इतिहास-यात्रा

जिन शासन का प्राण तत्त्व है अर्हत्-प्रवचन । अर्हत् सर्वज्ञ होते हैं, केवलज्ञानी होते हैं । उनकी ज्ञान-चेतना सर्वात्मना जागृत ही चुकी होती है । सपूर्ण जीव-अजीव जगत् अपने गुण-पर्याय धर्मों के साथ उनकी ज्ञान-चेतना में स्पष्ट परिलक्षित होता है । सर्वज्ञता प्राप्त होते ही वे लोक-कल्याण हेतु प्रवचन करते हैं । सत्य का प्रतिपादन करते हैं । अर्हन्तो द्वारा प्रतिपादित विशाल श्रुत के आधार पर गणधर द्वादशागी की रचना करते हैं ।

भगवान् महावीर जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे । कठिन अध्यात्म-साधना के पश्चात् वे सर्वज्ञ बने । सत्य का साक्षात्कार किया । जन-चेतना को जागृत करने हेतु उन्होंने प्रवचन किया । इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधरो ने, जो कि उनके प्रधान अतेवासी शिष्य थे, उस अर्थ रूप में प्रवाहित श्रुत के अजस्र-स्रोत को ग्रन्थो या शास्त्रो के रूप में रूपायित किया । शास्त्र रचे ।

अर्हत्-प्रवचन के आधार पर रचा गया आगम वाङ्मय द्वादशागी या गणि-पिटक कहलाया । वह विशाल ज्ञान-राशि आगम या श्रुत के नाम से प्रसिद्ध है । अर्हत् परम्परा के उत्तरवर्ती आचार्यों को यह अपार श्रुत-राशि विरासत के रूप में प्राप्त होती है । ये इसका अमूल्य-निधि के रूप में संरक्षण करते हैं ।

जैन-शासन को गणधरो की अमूल्य देन है—द्वादशागी या गणि-पिटक । वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदो का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, वही स्थान जैन परम्परा में गणिपिटक का है । भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती परम्परा में आचार्य सृधर्मा और जवू स्वामी ये दो ही केवली हुए । उनके युग तक आगम वाङ्मय सपूर्णतः सुरक्षित रहा । उनके पश्चात् छह श्रुत केवली हुए । उनमें भद्रबाहु का स्थान बहुत ऊँचा है । आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् श्रुत की धारा क्षीण होने लगी ।

जब-जब श्रुत की प्रवहमान धारा में अवरोध उत्पन्न हुए, श्रुत विच्छिन्न हुआ, श्रमण-संघ ने श्रुत-संपन्न समर्थ आचार्यों के नेतृत्व में श्रुत की सुरक्षा का तीव्र प्रयत्न किया । श्रुत का सकलन, सूत्र और अर्थ की विस्मृत या विच्छिन्न परम्परा का पुनः संधान, ग्रन्थ-लेखन आदि-आदि माध्यमों से महान् जैनाचार्यों ने श्रुत की महान् सेवाएँ की ।

श्रुत-सेवा के तीव्र प्रयत्नो मे मुनि-सघ के महासम्मेलन बुलाए गए और आगमो का सामूहिक वाचन किया गया। इसलिए वे प्रयत्न जैन सघ मे आगम-वाचना के रूप मे इतिहास-प्रसिद्ध हो गए। वे वाचनाए कब, किन परिस्थितियों और किन आचार्यों के नेतृत्व मे सम्पन्न हुईं, इसके सबध मे सक्षिप्त जानकारी करेंगे प्रस्तुत निबध के माध्यम से। वीर-निर्वाण की पहली सदी से लेकर वी नि के ९८० अथवा ९९३ वर्ष के मध्य आगम वाङ्मय के सकलन और व्यवस्थीकरण की दृष्टि से पाच प्रमुख वाचनाए सपन्न हुईं।

प्रथम वाचना

प्रथम आगम वाचना वी नि की दूसरी शताब्दी (वी नि १६०) मे हुई। उस समय श्रमण-सघ का मुख्य विहार-क्षेत्र मगध, आज का बिहार प्रदेश था। मगध राज्य मे १२ वर्षों तक लगातार दुष्काल पडा। उससे श्रमण-सघ को काफी कठिनाइयो से गुजरना पडा। मुनि-चर्या की कठोरता, नियमो की जटिलता, भिक्षा की अनुपलब्धि—इन सब कारणो से अनेक श्रुतधर मुनि दिवगत हो गए, अनेक रण हो गए। श्रुतधर मुनियो का स्वास्थ्य क्षीण हुआ। स्मृति क्षीण हुई। फलत श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो गई।

दुष्काल की समाप्ति पर विच्छिन्न श्रुत को सकलित करने के लिए वी नि १६० के लगभग, श्रमण-सघ के आचार्य पाटलीपुत्र (मगध) मे एकत्रित हुए। इस महासम्मेलन का नेतृत्व कर रहे थे महामनस्वी आचार्य स्थूलभद्र। उनके निर्देशन मे सभी श्रमणो ने मिलकर ग्यारह अगो का प्रामाणिक सकलन किया। बारहवा अग दृष्टिवाद किसी भी श्रमण को याद नही था। इस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता एक मात्र आचार्य भद्रबाहु वचे थे। वे नेपाल मे महाप्राण ध्यान की साधना मे निरत थे। श्रुत की इस अपूरणीय क्षति को पूरा करने प्रखर मेधावी आर्य स्थूलभद्र विशाल श्रमण-सघ के साथ नेपाल पहुचे। सघ के अनुनय भरे निवेदन को स्वीकार कर आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र आदि श्रमणो को दृष्टिवाद की वाचना देना प्रारम्भ किया। धृतिदुर्बलता के कारण स्थूलभद्र के सिवाय पूर्व-श्रुत की आराधना मे सभी मुनि असफल हो गए। मात्र स्थूलभद्र ही चौदह पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर सके। साध्वी वहनो को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होने शक्ति-प्रदर्शन किया, इस प्रमाद के प्रायश्चित्त स्वरूप आचार्य भद्रबाहु ने उन्हे अतिम चार पूर्वो की अर्थ-वाचना नही दी। अत अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु हुए। उनके स्वर्गवास (वी नि १७०) के पश्चात् अर्थत अतिम चार पूर्वो का विच्छेद हो गया।

दूसरी वाचना

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य में श्रुत-सुरक्षा का एक और प्रयत्न हुआ था कलिगाधिपति जैन सम्राट् खारवेल के युग में । हिमवत स्थविरावली के अनुसार सम्राट् खारवेल ने कुमारी पर्वत पर एक वृहत् श्रमण-सम्मेलन आयोजित किया था । इस सम्मेलन में आचार्य महागिरि की परंपरा के बलिस्सह, बौद्धलिग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि दो सौ जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले श्रमण एवं आर्यसुस्थित, आर्य सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि तीन सौ स्थविरकल्पी श्रमण सम्मिलित हुए थे । आर्य पोङ्गी आदि तीन सौ साध्विया, भिक्खुराय, चूर्णक, तेलक आदि छह सौ श्रावक तथा पूर्णमिश्रा आदि छह सौ श्राविकाएँ भी सम्मिलित थीं ।

उक्त वृहत् सम्मेलन में साध्वियों और श्राविकाओं की भागीदारी जैन शासन में नारी-जाति की प्रतिष्ठा का ऐतिहासिक दस्तावेज है । इस अवसर पर श्रुत-स्वाध्याय और श्रुत-स्थिरीकरण के अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण भी हुआ ।

श्यामाचार्य ने पञ्चवणा सूत्र की, उमास्वति ने तत्त्वार्थ सूत्र की और स्थविर आर्य बलिस्सह ने अगविद्या प्रभृति शास्त्रों की रचना की । इस प्रकार सम्राट् खारवेल ने प्रचार-प्रसार, श्रुत-संरक्षण आदि दृष्टियों से जैन-धर्म की अद्वितीय सेवा की । जैनधर्म को व्यापक बनाने में अपनी सत्ता और शक्ति का भरपूर उपयोग किया ।

सम्राट् खारवेल को उसके कार्यों की प्रशस्ति के रूप में धम्मराज, भिक्खुराज, खेमराज आदि सम्मान-सूचक शब्दों से सम्मानित किया गया । चक्रवर्ती खारवेल जैन-धर्म का अनन्य उपासक था । उसके सुप्रसिद्ध हाथी-गुम्फा अभिलेख से भी यह उपलब्ध होता है कि उसने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन श्रमणों का एक सघ बुलाया और मौर्यकाल में जो अग विच्छिन्न हो गए थे उन्हें उपलब्ध कराया ।

कलिग-चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल का शासनकाल वी. नि. ३०० से ३३० माना गया है, अतः उक्त श्रमण-सम्मेलन भी इसी अवधि में सम्पन्न हुआ था, ऐसा इतिहासविज्ञों का अभिमत है ।

अनेक इतिहासकारों ने इस सम्मेलन को वाचना का दर्जा नहीं दिया है, फिर भी इसकी गरिमा और मूल्यवत्ता किसी भी आगम-वाचना की तुलना में कम नहीं है ।

तीसरी और चौथी वाचना

ये दोनों वाचनाएँ वी. नि. ८२७ से ८४० के मध्य हुईं । इस काला-

वधि में फिर वारह वर्षीय भयकर दुष्काल पड़ा। इससे जन-जीवन अस्त-व्यस्त और सन्नस्त हो उठा। तपस्वी और धृति-सपन्न मुनि-सभ भी इससे अप्रभावित नहीं रह सका। भिक्षा का मिलना अत्यन्त कठिन हो गया। अनेक श्रुतधर आचार्यों और मुनियों ने वैभार गिरि और कुमार-गिरि पर्वत पर अनशन स्वीकार कर आत्मार्थ सिद्ध किया। कुछ मुनि सयम-जावन के निर्वाह हेतु दूर देशों की ओर चल पड़े। जो रहे, वे उचित भिक्षा-वृत्ति के अभाव में आगमों का अध्ययन, अध्यापन, ग्रहण और प्रत्यावर्तन नहीं कर सके। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे श्रुत का नाश होने लगा। अतिशायी श्रुत तो बच ही नहीं सका, अगो और उपागो के संपूर्ण अर्थ के ज्ञाता मुनि नहीं बचे। सूत्रा-गम का भी बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया।

दुष्काल समाप्त हुआ। वातावरण अनुकूल बना, तब उस समय के समर्थ आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में सामूहिक आगम-वाचना हुई। जिन-जिन श्रमणों को आगमों का जितना भाग याद था, उसका अनुसंधान कर व्यवस्थित किया गया। इस प्रयत्न से कालिक सूत्रों और पूर्वगत के कुछ अंशों को सकलित किया गया। यह वाचना आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व तथा मथुरा में होने के कारण स्कन्दिली-वाचना या माथुरी-वाचना कहलाई।

इस वाचना में मधुमित्र, गधहस्ती आदि डेढ़ सौ श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र और गधहस्ती आर्य स्कन्दिल के मेधावी गुरु भाई मुनि थे। परस्पर श्रुत के आदान-प्रदान द्वारा टूटी हुई श्रुत-शृङ्खला को जोड़ने तथा अवशिष्ट श्रुत-सपदा के संरक्षण का भगीरथ प्रयत्न किया गया। मतांतर के अनुसार उस समय तक श्रुत नष्ट नहीं हुआ था। वह विद्यमान था, किन्तु श्रुत के अर्थ की विस्मृति हो गई यथा आर्य स्कन्दिल के सिवाय शेष श्रुतधर मुनि दिवंगत हो गए थे। अतः श्रुत की अर्थ-परस्परा को चिरजीवी बनाए रखने के लिए युग प्रधान आर्य स्कन्दिल ने उस सकलित श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी। अनुयोग का प्रवर्तन किया। यह अनुयोग-प्रवर्तन ही स्कन्दिली या माथुरी वाचना कहलाया। गधहस्ती ने इस वाचना का पूरा विवरण लिखा। मथुरा के ओसवाल वंशज सुश्रावक पोपाल ने उस विवरण समेत संपूर्ण सूत्रों को ताड-पत्र पर लिखवाकर श्रमण सभ को समर्पित किया। स्मृति-परम्परा से सुरक्षित श्रुत पहली बार लिपिवद्ध हुआ। ठीक इसी समय आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में श्रमण सभ वल्लभी में एकत्रित हुआ। श्रुत का आदान-प्रदान हुआ। श्रमण बीच-बीच में बहुत-सा श्रुत भूल चुके थे। चिंता हुई, श्रुतनिधि संपूर्णतः नष्ट न हो जाए, इस दृष्टि से उस समय तक जितना श्रुत बचा था, उसे सकलित कर लिया गया। यह वल्लभी वाचना अथवा नागार्जुनीय वाचना कहलाई। देवद्विगणी क्षमाश्रमण से भी आर्य स्कन्दिल को

अनुयोग प्रवर्तक तथा नागार्जुन को वाचक रूप में वदना की है।

पांचवी वाचना

माथुरी और बल्लभी वाचना के १५९ वर्ष पश्चात् यानी वी नि ९८० में देवद्विगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुन श्रमण-सघ एकत्रित हुआ। देवद्विगणी श्रुत-रत्नो के धारक युग प्रभावक आचार्य थे। वे एक पूर्व के ज्ञाता थे। उन्होंने अनुभव किया—स्मृति दौर्बल्य श्रुत-परावर्तन का अभाव, गुरु-परम्परा की विच्छिन्नता इत्यादि कारणों से श्रुत की धारा अत्यंत क्षीण हो रही है। पूर्व श्रुत वह अथाह अपार ज्ञान राशि है जिसके लिए कहा जाता है कि संपूर्ण पृथ्वी को कागज और मदराचल को लेखनी बना लिया जाये तो भी उस ज्ञान का लेखन संभव नहीं, उस अमेय ज्ञान-सपदा का श्रमण अपनी स्मृति-परम्परा से सुरक्षित रखते थे। आर्य देवद्विगणी समयज्ञ थे। उन्होंने देखा, अनुभव किया कि अब समय बदल गया है, स्मृति के आधार पर श्रुत को सुरक्षित रखना संभव नहीं है। श्रमणों की स्मरण-शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है। समय रहते यदि श्रुत-सुरक्षा का उचित उपाय न खोजा गया तो उसे बचाना कठिन है। इसी चिन्तन के आधार पर देवद्विगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण-सघ पुन मथुरा में एकत्रित हुआ। उपलब्ध कठस्थ श्रुत के आधार पर विच्छिन्न आगम-वाङ्मय को व्यवस्थित किया गया। यह वी नि की दसवीं सदी की महत्त्वपूर्ण आगम-वाचना थी। आगम-साहित्य को स्थायित्व देने की दृष्टि से उनके निर्देशन में आगम-लेखन का कार्य प्रारम्भ हुआ। उस समय माथुरी और बल्लभी दोनों ही वाचनाएँ उनके समक्ष थीं। दोनों परम्पराओं के प्रतिनिधि आचार्य एव मुनिजन भी उपस्थित थे। देवद्विगणी ने माथुरी वाचना को प्रमुखता प्रदान की और बल्लभी-वाचना को पाठांतर के रूप में स्वीकार किया। माथुरी-वाचना के समय भी आगम ताड-पत्रों में लिखे गये थे, पर इस दिशा में जो सुव्यवस्थित कार्य देवद्विगणी ने किया, वह अपूर्व था।

बलहीपुरस्मि नघरे, देवद्विडय महेण समण-सघेण ।

पुत्थइ आगमु लिहिओ, नवसय-असी सयाओ वीराओ ॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण-सघ ने आचार्य देवद्विगणी की निश्चा में वी नि ९८० में वाङ्मय को पुस्तकाङ्कित किया था। उनके इस पुनीत प्रयत्न से आगम-ज्ञान की धारा सुरक्षित रही। उत्तरवर्ती परम्परा उपकृत हुई।

आज जन शासन में जो आगम-निधि सुरक्षित है, उसका श्रेय देवद्विगणी क्षमाश्रमण के दूरदर्शिता पूर्ण सत्प्रयत्नों को ही है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान महावीर के सत्ताईस पाठ तक आचार-विचार को

शुद्ध परंपरा रही थी। श्री देवर्द्धिगणी सत्तावीसवें आचार्य हुए हैं। अतः श्वेताम्बर आम्नाय की सभी शाखा-प्रशाखाओं के लिए वे नमस्य हैं। उनके प्रयत्न प्रणम्य हैं। यह हुई आगम-वाङ्मय की सुरक्षा के उपायों की चर्चा। जैन समाज ही नहीं, पूरा अध्यात्म जगत् उन आचार्यों का ऋणी है, जिन्होंने श्रुत-ज्ञान की मशाल को समय के उस नाजुक दौर में भी अपनी श्रद्धा की ओट में रखकर बुझने से उबार लिया, जब परिस्थितियों का भ्रूभावात् उसे बुझाने की पूरी तैयारी में था।

पाठकों के मन में एक प्रश्न जरूर उठ रहा होगा कि पुस्तकारूढ़ तो दसवीं शताब्दी में किया गया। इससे पूर्व ज्ञान की इस विशाल थाती को मात्र कठोर रखकर या स्मृति-कोष्ठों में भरकर कैसे सुरक्षित रखा गया? इस प्रश्न का समाधान शरीर-शास्त्रीय और परा-मानस शास्त्रीय अध्ययन से स्पष्ट हो सकता है। आधुनिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव मस्तिष्क शक्ति का अक्षय कोष है। उसमें ऐसे तत्त्व निहित हैं जिनके आधार पर बीस अरब पृष्ठों से भी अधिक ज्ञान-भंडार को सुरक्षित रखा जा सकता है। कुछ वैज्ञानिकों ने यहां तक घोषणा की है कि मनुष्य-मस्तिष्क में इतने स्मृति-प्रकोष्ठ हैं, जिनमें समग्र विश्व का साहित्य संग्रहित किया जा सकता है। दुनिया के सभी पुस्तकालयों का ज्ञान भरा जा सकता है। किन्तु देश, काल आदि परिस्थितियों की प्रतिकूलता ने मानवीय मस्तिष्क की उन क्षमताओं पर तीव्र प्रहार किया, जिससे स्मृति क्षीण हुई और उसके साथ प्रवाहित होने वाली ज्ञान-गंगा की धारा भी सिमटने लगी। सर्वनाश के उन क्षणों में भी जिन्होंने अद्वितीय आत्मविश्वास के साथ आगम-वाङ्मय के प्रकाश को वचाया, श्रुत की स्रोतस्विनी के सवाहक बने, वे महान् आचार्य जैन-शासन में अभिनदनीय बन गए। उनके सान्निध्य में संपन्न होने वाली आगम-वाचनाएँ इतिहास की अमर गाथाएँ बन गईं।

वर्तमान में युगप्रधान वाचना-प्रमुख गणाधिपति गुरुदेव तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के नेतृत्व में आगम-संपादन का अद्भुत कार्य हो रहा है। यह भी अपनी कोटि की अपूर्व वाचना है। इस वाचना का क्रम चालू है। अथाह आध्यात्मिक ऊर्जा के महास्रोत गुरुदेव श्री तुलसी और भारतीय मनीषा के शिखरपुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञ के प्रखर पुरुषार्थ के साथ उनके अनेक प्रबुद्ध शिष्य-शिष्याओं के श्रम से संपादित आडगम वामय, निष्पक्ष दृष्टि से निर्धारित शुद्ध पाठ, संस्कृत रूपांतरण, आधुनिक हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत पाद-टिप्पणों के साथ जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित होकर अब विद्वानों के हाथों में पहुँचा तो उन्होंने इसे बीसवीं सदी की महान् उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया। आगम-संपादन के इन महान् अनुष्ठानों को निर्विवाद रूप से 'पाचवीं आगमवाचना' कहा जा सकता है।

वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष जैन सम्राट् चेटक

वैशाली गणराज्य

महावीर के युग में उत्तर-भारत में राजतंत्रीय और गणतंत्रीय दोनों प्रकार की सत्ताएँ विकसित हो चुकी थीं। वत्स, अवन्ती, मगध और कौशल—ये उस समय के राजतंत्रीय या एकतंत्रीय राज्य थे। उनकी शक्ति अपरिमित थी। वे साम्राज्यवाद की बलवती भावना से ओत-प्रोत थे। इनके अतिरिक्त अन्यान्य सभी सभागों में गणराज्य या सघराज्य स्थापित थे। ये गणराज्य राजतंत्रवाद के प्रबल विरोधी थे। यद्यपि इनकी शासन-प्रणाली पूर्णतः जनतंत्रात्मक नहीं थी, किन्तु उसे वर्तमान की जनतंत्रीय प्रणाली का आदि रूप मानें तो कोई आपत्ति नहीं होगी। वैशाली गणतंत्र के सचालक सदस्यों की विशाल संख्या के आधार पर प्रतीत होता है कि यह पूरे राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी। इस माने में वह जनतंत्रात्मक समाप्ती थी। लेकिन वर्तमान शासन-प्रणाली के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि उस युग के गणराज्य न तो पूरे एकतंत्रीय राज्य थे, न पूरे प्रजातंत्रीय। उसके प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने गए व्यक्ति नहीं होते थे। अपितु कितने ही कबीले मिलकर उसका सचालन करते थे।

कात्यायन के अनुसार गणराज्य वह शासन-प्रणाली है जिसको एक विशिष्ट क्षत्रीय वर्ग सचालित करता है। अतः जनतंत्र का अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि जनतंत्र अथवा वर्तमान भारत का गणतंत्र जहाँ जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों का शासन है वहाँ प्राचीन गणराज्य विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों द्वारा सचालित होते थे।

वैशाली गणराज्य के सविधान के आधार पर आधुनिक विद्वानों का यह अभिमत पुष्ट हो रहा है कि तत्कालीन गणों में कुलीन-तंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था थी। फिर भी उक्त गणराज्य प्रजातंत्र के अधिक अभिमुख थे।

उल्लिखित गणों में राजनैतिक रूप से सबसे प्रसिद्ध गण वज्जियों (लिच्छवियों) का था। वह नौ सम्मिलित कबीलों का एक शक्तिशाली सघ था। वह सघ गणतंत्रीय विचारों का प्रमुख केन्द्र था। इस जाति को अपनी इस विशिष्ट राजनैतिक व्यवस्था पर गौरव था। अपनी प्रभुता की सुरक्षा के लिए इसे समय-समय पर महान् बलिदान भी करने पड़े थे।

संथागार और चेटक

लिच्छवी क्षत्रियों द्वारा शासित वज्जिसघ उस युग का एक आदर्श

और प्रख्यात गणतंत्रीय राष्ट्र था। उसका विधि-विधान आज की जनतंत्रीय प्रणाली से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। जनता या नागरिकों के प्रतिनिधि राजा कहलाते थे। उनका स्थान वर्तमान के ससद-सदस्यो—विधायकों के समकक्ष था। वे वैशाली के सथागार में बैठकर गणतंत्रीय पद्धति से राज-नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि समस्याओं पर विचार-विमर्श करते थे। गणराज्य की सचालन-विधियों के मुख्य केन्द्र सथागार होते थे। वे प्रमुख नगरों में होते थे। गण-भवनो में केन्द्रीय अधिवेशन होते थे। यह सथागार वस्तुतः लोकसभा का ही पूर्ण रूप कहा जा सकता है।

सथागारों में पारित अधिनियमों को ही राजा तथा मन्त्रीमंडल क्रियान्वित करता था। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, नागरिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी समस्याएँ यहीं सुलझाई जाती थीं।

भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भी उनमें से एक थे, ऐसा कई इतिहासकार मानते हैं। वे सभी सदस्य अपने क्षेत्र के प्रतिनिधि होते थे, जो उन-उन क्षेत्रों के अधिपति घोषित किए जाते थे। उन सभी सदस्यों की एकता और प्रेम अनुकरणीय था। वे परस्पर किसी को हीन या उच्च नहीं मानते थे। सभी अपने-आपको अहम राजा मानते थे। वैशाली में इनके अलग-अलग प्रासाद, आराम आदि थे। इन राजाओं की शासन-सभा सघ-सभा कहलाती थी। इनका गणतंत्र वज्जी सघ या लिच्छवी सघ कहलाता था। इस सघ में ९-९ लिच्छवियों की दो-दो उप-समितियाँ थीं। एक न्याय-कार्य सभालती थी और दूसरी परराष्ट्र-कार्य की। इस दूसरी समिति ने मल्लवी, लिच्छवी और काशी-कौशल के गण राजाओं का सगठन बनाया था, जिसके अध्यक्ष थे महाराज चेटक।

राज्याध्यक्ष वनाम-धर्माध्यक्ष

जैन इतिहास में महाराज चेटक को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय जन-मानस में आज भी उनके प्रति आदर के भाव हैं। वह इसलिए नहीं कि महाराज चेटक तीर्थंकर महावीर के मामा थे या बहुत बड़े शासक थे, अपितु इसलिए कि एक शासक के सम्मानपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होते हुए भी उनका जीवन अध्यात्म से अनुप्राणित था। वे सत्ता के बल पर घम-नीति पर ध्यान नहीं, अपितु उन्होंने राजनीति को घमनीति के अनुसार सचालित किया। उन्होंने अपने गणतंत्र को जैन सिद्धांतों की प्रयोग-भूमि बनाया। मानवीय एकता, वैचारिक स्वतंत्रता, समता, सद्भावना और सहअस्तित्व के सिद्धांतों को उन्होंने व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

वे अपने युग के ऐतिहासिक व्यक्ति थे। वे महावीर के परम भक्त और दृढ़धर्मी उपासक थे। उनकी धार्मिकता और महत्ता की धाप पूरे परि-

वार पर थी। उनका सारा परिवार जैन दर्शन और सिद्धांतों के प्रति आस्थावान् था। उनके सात कन्यायें थीं जो परम विदुषी और आदर्श नारियां थीं।

वे अपने पिता के आदर्श सस्कारों में ढली हुई थीं। राजा चेटक की यह प्रतिज्ञा थी कि वह अपनी कन्याओं को साधमिक राजाओं के साथ ही व्याहेगा। उन्होंने उस युग के प्रख्यात राजाओं के साथ अपनी सुसस्कारी पुत्रियों को व्याहा। उनमें से—

१. प्रभावती—वीतभयपुर (सिंधु सौवीर के) के राजा उदायन को

२. पद्मावती—अगदेश के राजा दधिवाहन को

३. मृगावती—वत्सदेश के राजा शतानीक को

४. शिवा—उज्जैनी नरेश चण्डप्रद्योत को

५. ज्येष्ठा—महावीर के भ्राता नन्दीवर्धन को

६. चेलना—मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार को व्याही गई थी।

एक कन्या सुज्येष्ठा महावीर के सघ में दीक्षित हो गई।

यद्यपि सम्राट् श्रेणिक पहले जैन नहीं था, लेकिन वह उस शक्तिशाली गणतंत्र के सर्वोच्च नेता के साथ स्थायी मैत्री संबंध स्थापित करना चाहता था। इधर चेटक की पुत्रियों की सर्वगुणसम्पन्नता सर्वत्र सुविश्रुत थी।

श्रेणिक ने राजा चेटक के पास उसकी पुत्री से विवाह करने का प्रस्ताव भेजा। राजा चेटक ने वह स्वीकार नहीं किया। क्योंकि वह अपने प्रण के अनुसार किसी विधर्मी नरेश को अपनी पुत्री नहीं दे सकता था। सम्राट् श्रेणिक ने फिर छल-बल से उनकी सबसे छोटी पुत्री चेलना को पाया, जिसे एक आदर्श नारी, दृढ़ श्रद्धालु और तत्त्वज्ञा श्राविका के रूप में जैन सघ में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। वैसे चेटक की सभी पुत्रियां अपने समय की विख्यात नारियां हुई हैं।

जैन परम्परा में जिन १६ आदर्श नारियों का वर्णन आता है, वे सोलह सतियों के नाम से जानी जाती हैं। उनमें से चार तो महाराज चेटक की पुत्रियां ही थीं, जिनके नाम हैं—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती और शिवा।

महाराज चेटक का साम्राज्य वैशाली गणतंत्र के नाम से प्रसिद्ध था। उनके गणतंत्र की अपनी विरल विशेषताएँ थीं। गण के सभी सदस्यों में मतैक्य, सौहार्द, परस्पर आदर के भाव, अपने सिद्धांतों के प्रति दृढ़ता आदि की भावना प्रबल थी। उनमें राष्ट्रीयता की भावना अद्वितीय थी। महात्मा बुद्ध ने इनकी सहिष्णुता की बहुत प्रशंसा की है।

चेटक के दस पुत्रों में से 'सिंह' वज्जी सघ के प्रधान सेनानायक थे। राजा चेटक वारहव्रती श्रावक थे। वे दृढ़ प्रतिज्ञ थे। समरागण में भी उन्हें

निहत्थे पर वार न करने का और एक दिन में एक से अधिक व्राण न चलाने का सकल्प था, जिसका पालन उन्होंने घोर आपत्कालीन स्थिति में भी किया।

अपने दौहित्र कूणिक के साथ महाराज चेटक का भीषण संग्राम हुआ, जो रथमूसल संग्राम या महाशिला-कटक संग्राम के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। उस परिस्थिति में भी वे अपने व्रतो की कठिन कसौटी पर खरे उतरे। प्रण की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। कवि की ये पक्तियाँ कितनी सार्थक हैं—

प्रण करना है सहज;
कठिन है लेकिन उसे निभाना,
सबसे बड़ी जाच है, व्रत का
अन्तिम मोल चुकाना।
अन्तिम मूल्य न दिया अगर तो
और मूल्य देना क्या ?
करने लगे मोह प्राणों का
तो फिर प्रण लेना क्या ?

उस प्रलयकर युद्ध में भी महाराज चेटक तथा उनके विभिन्न सेना-पतियों ने जिस अहिंसा-निष्ठा और विवेक का परिचय दिया, उससे जैन धर्म के सिद्धांत, अहिंसा और जैन धर्मावलम्बियों के प्रति जो भ्रात धारणाएँ पनपी हुई हैं, उनका स्वतः निराकरण हो जाता है। महाराज चेटक का व्यक्तित्व एक महान राजनयिक शक्ति के साथ-साथ वर्चस्वी अहिंसक योद्धा के रूप में अभिव्यक्त होता है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि—

- धर्म व्यक्ति को सामाजिक और नैतिक दायित्वों से विमुक्त नहीं करता।
- अहिंसा कायरता नहीं, अपितु प्राण-विसर्जन की तैयारी में सतत जागरूक पौरुष है।
- अहिंसाव्रती अनाक्रमण में विश्वास रखते हैं, पर वे अनाक्रमण की क्षमता से शून्य नहीं होते। हा, वे अपनी शक्ति का मानवीय हितों के विरुद्ध प्रयोग नहीं करते।
- उनके सामने युद्ध की अनिवार्य-स्थिति उत्पन्न कर दी जाती है तो फिर वे अपने दायित्व से पीछे भी नहीं हटते हैं।

महाराज चेटक के गणराज्य में जैनधर्म का समुचित प्रसार हुआ था। गणराज्य के अठारह सदस्य-नृप नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी भगवान् महावीर के निर्वाण के समय वही पीपघ किये हुए थे।

महान् जैन नरेश : मगध सम्राट् श्रेणिक

श्रेणिक जैन थे या बौद्ध ?

महावीरकालीन चार राजतन्त्रीय राज्यों मे मगध साम्राज्य सर्वाधिक शक्ति-संपन्न था । उसके शासक थे सम्राट् श्रेणिक । हिन्दू, बौद्ध और जैन— इन तीनों ही भारतीय धर्म-परम्पराओ मे उनका उल्लेख है । सभी संप्रदायो द्वारा उन्हें अपने धर्म का अनुयायी घोषित किया गया है, बौद्ध साहित्य मे तो उनके बौद्ध होने के इतने सबल प्रमाण उपलब्ध हैं कि सहसा उन पर विश्वास हुए बिना नहीं रहता । लेकिन ऐतिहासिक छान-बीन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् श्रेणिक पितृ-परम्परा से ही जैन थे । हो सकता है, अपने निर्वासन-काल मे वे किसी अन्य सम्प्रदाय के सम्पर्क मे गये हो, उससे प्रभावित हुए हो, और जैन-धर्म के प्रति उदासीनता रखने लगे हो । संभवत उसी उखड़ी हुई आस्था को जैन-धर्म मे पुन प्रतिष्ठित करने के लिए ही महारानी चेलना को भारी प्रयत्न करने पडे थे । वह सम्प्रदाय “बौद्ध” भी हो सकता है, कोई अन्य भी । लेकिन सिवाय इसके कि वे बौद्ध धर्म से भी सहानुभूति और सौहार्द रखते थे, कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, जिससे उन्हें बौद्ध माना जा सके । हा, यह तो हर जन-प्रिय शासक के लिए अनिवार्य होता है कि वह सब धर्मों का आदर करे और सबको फलने-फूलने का अवसर दे । इसके विपरीत ऐसे अनेक-अनेक प्रमाण तथा उल्लेख जैन ग्रंथो मे उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उनका जैन होना तो निर्विवाद सिद्ध हो ही जाता है, साथ ही साथ उनके द्वारा दी गई जैन-धर्म की अपूर्व सेवाओ की भी अवगति मिलती है । उनका वैदिक पुराणो मे विधिसार, बौद्ध पिटको मे बिम्बसार और जैन-साहित्य मे श्रेणिक भ्रमासार के नामो से समुल्लेख हुआ है । उनके पिता का नाम हिंदू पुराणो मे शिशुनाग या शैशुनाक तथा बौद्ध ग्रन्थो और जैन अनुश्रुतियो मे उपश्रेणिक मिलता है ।

श्रेणिक के कुमारकाल मे ही उनके पिता ने किसी कारण से कुपित होकर उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया था । निर्वासन-काल मे उन्होंने देशाटन कर देश-देशान्तरो के अनुभव प्राप्त किए । इसी काल मे वे संभवत कतिपय जैनेतर साधुओ के सपर्क मे गए । उनके भक्त बने और जैन-धर्म से विद्वेष भी करने लगे, किंतु थोडे ही समय मे उन्होंने अपने दृष्टिकोण और जीवन की दिशा को मोड लिया था । वे महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के पूर्व ही पुन जैन बन गये थे ।

अपने ज्येष्ठ भ्राता चिलाती-पुत्र के जैन श्रमण बन जाने के पश्चात् लगभग ई०पू० (५८७-८८९) में वे मगध-सिंहासन पर आरूढ हुए। चेटक-सुता चेलना श्रेणिक की अग्रमहिषी थी। अनुश्रुतियों के आधार पर चेलना से विवाह के समय श्रेणिक बौद्ध धर्म से प्रभावित थे। इसलिए प्रमुख जैन श्रावक चेटक ने अपनी प्रतिज्ञानुसार अपनी कन्या को एक विधर्मी राजा को देने से इन्कार कर दिया। लेकिन श्रेणिक ने छल-पूर्वक चेलना को प्राप्त कर लिया। चेलना की जैन-धर्म के प्रति अनन्य आस्था थी। उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। तथा सम्राट् ने उसे बौद्ध धर्म के रंग में रगना चाहा। पर कोई किसी को झुका नहीं सका। एक दिन सम्राट् ने महानिग्रंथ अनार्थी को ध्यान-लीन देखा। निकट गया। वार्तालाप किया और अन्त में जैन बन गया। उसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ गया।

जैन धर्म के प्रति पुन आस्था

सभवतः भगवान् महावीर के कैवल्य-लाभ से पूर्व ही श्रेणिक की आस्था पुन जैन धर्म में केन्द्रित हो गई थी।

जैन आगमों के अनुसार उनके जैन धर्म से प्रभावित होने का निमित्त बना था—जैन मुनि अनार्थी का प्रथम सपकं।

वन-क्रीडा के लिए गये हुए श्रेणिक ने “मण्डिकुक्षि” नामक रमणीय उद्यान में एक तरुण जैन श्रमण को देखा। उनका शरीर सुकोमल था। आकृति भव्य थी। मुख से असीम सौम्यता और शांति टपक रही थी। वे एक वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में बैठे थे। ज्योंही उन तरुण श्रमण पर दृष्टि टिकी, मगध-सम्राट् के मुख से अनायास शब्द मुखरित हुए—

अहो वण्णो अहोरूव, अहो अज्जस्स सोमया।

अहो खन्ती अहो मुत्ती, अहो भोगे असगया ॥

कैसा वर्ण ? कैसा रूप ? इस आर्य की कैसी सौम्यता ? कैसी क्षमा ? कैसा त्याग ? कैसी इनकी भोगनिस्पृहता ?

मुनि के आकर्षण से आकृष्ट श्रेणिक उनके निकट गये और आश्चर्य भरी वाणी से पूछने लगे—

आर्य ! आप तो अभी तरुण हैं, अतः अभी तो आपके भोगोपभोग का समय है। यह विराग का नहीं, अनुराग का समय है। त्याग का नहीं, भोग का समय है। योग का नहीं हर विषय के प्रयोग का समय है। मुझे आश्चर्य होता है, इस जवानी में भी आप क्यों सन्यासी बन गये हैं। मुनि ने कहा—“राजन् ! मैं अनाथ था।”

राजा—“आप जैसे बुद्धिमान भी अनाथ ? आइए—जाज ने मैं

आपका नाथ बनता हू। छोडिये इस कष्ट-साध्य साधना और कठिन तपस्या को। ससार मे प्रवेश करें और जीवन का सही आनन्द लूटें। मुनि - “राजन् ! आप स्वय भी अनाथ हैं। फिर कैसे बनेंगे मेरे नाथ ?” सम्राट् श्रेणिक आश्चर्य मे डूब गये। वे समझ नहीं रहे थे मुनि की रहस्य-भरी बात। मेरे जैसा अपार विभूता का स्वामी भी यदि अनाथ होगा तो फिर दीन-दुखियो का क्या होगा ?

जिज्ञासा के स्वर मे सम्राट् ने अनाथता की परिभाषा और मुनि की अनाथता का कारण पूछा। मुनि ने कहा— ‘मैं कौशाम्बी नगरी के एक धन-कुबेर पिता का पुत्र था। भरा-पूरा परिवार था। सुख-समृद्धि का सागर लहरा रहा था। एक वार मेरी आखो मे भयकर पीडा और शरीर मे दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया। हर सभव उपचार असफल होता गया। पिता मेरे लिए सब कुछ न्योछावर करने के लिए प्रस्तुत थे। फिर भी मुझे रोग-मुक्त नहीं कर सके। ममतामयी मा, सगे भाई-बहिनें तथा प्राणप्रिया पत्निया भी गीली पलको से मेरी ओर निहारती रही, पर कोई भी उस असह्य पीडा से मुझे नहीं उबार सका। राजन् ! यह मेरी अनाथता थी। इस प्रकार मैंने स्वय को सब तरह से अनाथ पाकर अन्त मे धर्म की शरण ली। मैंने दृढ सकल्प किया—“यदि इस व्याधि से मुक्त हो जाऊ तो अनगार धर्म को स्वीकार करू।” अगले ही दिन पीडा शात हो गई, और मैं धर्म की शरण मे आ गया। स्वय स्वय का नाथ बन गया।”

साधुत्व स्वीकार कर उसका सम्यक् पालन न करने वाले तथाकथित साधको को भी महानिर्ग्रंथ अनाथी ने अनाथ बताया। और प्रतिबोध की भाषा मे श्रेणिक से कहा— मेधाविन् ! ज्ञान-गुणोपपेत इस सुभाषित अनुशासन को सुनकर और कुशीलजनो के मार्ग का सर्वथा परित्याग कर तुम महानिर्ग्रंथो (तीर्थंकरो) के पथ का अनुसरण करो। ऐमा कर तुम भी स्वय के नाथ बन जाओगे, अपने स्वामी बन जाओगे।

यह सुनकर मगधराज श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए। अजलि-वद्ध होकर कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन्होने कहा—“महामुने ! आपने मुझे अनाथता का सम्यग् बोध दिया। आपका जन्म सफल है। आप ही सही अर्थ मे सनाथ और सवधु हैं। क्योंकि आप सर्वोत्तम जिनमार्ग मे अवस्थित हैं। मैंने आपको विषय-भोगो के लिए निमन्त्रित किया। आपके ध्यान मे विघ्न उपस्थित किया। इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हू। मैं आपका अनुशासन स्वीकार करता हू।” उसके अनन्तर मगध-सम्राट् श्रेणिक महानिर्ग्रंथ अनाथी को प्रणाम कर सवन्धु और सपरिजन धर्म मे अनुरक्त हुए।

अनाथी निर्ग्रंथ से धर्म-बोध मिलने के पश्चात् जैन-धर्म के साथ सम्राट् श्रेणिक की घनिष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। भगवान् महावीर के

कैवल्य-लाभ के पश्चात् उनके प्रति श्रेणिक की अनन्य भक्ति और प्रगाढ श्रद्धा के अनेक उदाहरण जैन आगम साहित्य में उल्लिखित हैं।

जिज्ञासु श्रावक

श्रेणिक की जैन धर्म के प्रति गहरी अनुरक्ति ने जन-साधारण को प्रभावित किया। भक्ति ने भगवान् को रिभाया। राजगृह की उर्वरा धरती से उठने वाली अध्यात्म ऋति की सभावनाओं के कारण ही श्रेणिक के सम्य भगवान महावीर ने राजगृह में वर्षावास विताये थे।

सम्राट् श्रेणिक उस समय प्रायः नियमित रूप से समवसरण में उपस्थित होते। व्याख्यान श्रवण करते समय उनका मानस में जो भी जिज्ञासाए उभरती, भगवान् के सामने प्रस्तुत करते और उनका समुचित समाधान प्राप्त कर अत्यन्त आल्हादित होते।

भगवान् महावीर और श्रेणिक के अनेक सस्मरण आज भी जैन-वाङ्मय में गुम्फित हैं। उनमें श्रेणिक का जिज्ञासु रूप प्रखरता से अभिव्यक्त हुआ है। एक जैन सम्प्रदाय की तो यहाँ तक मान्यता है कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से ६० हजार प्रश्न पूछे और भगवान् ने उनका समाधान किया।

भावी तीर्थंकर

एक बार सम्राट् श्रेणिक महावीर के समवसरण में प्रवचन सुन रहे थे। एक कुण्ठी उनकी वगल में बैठी थी। उसने महावीर को देखकर कहा—“मर रे।” श्रेणिक से कहा—“जी रे।” अभयकुमार से कहा—“चाहे जी चाहे मर।” कालशौकरिक कसाई भी उधर से होकर गुजरा, कुण्ठी ने उसकी ओर संकेत कर कहा—“न मर, न जी।” यह असम्बद्ध प्रलाप सुनकर श्रेणिक के सैनिकों ने उसे पकड़ना चाहा। पर वह देखते-देखते ही अन्तरिक्ष में विलीन हो गया। श्रेणिक ने इस देव माया के वारे में जानने की उत्सुकता व्यक्त की। भगवान् महावीर ने कहा—श्रेणिक यह कुण्ठी के रूप में देवराज इन्द्र था। इसने जो कुछ कहा—यथार्थ कहा है। जैने मुझे मरने के लिए कहा—वह इसलिए कि मेरे आगे मोक्ष है। तुझे जीने के लिए कहा—क्योंकि तुम्हारे लिए आगे नरक है। अभयकुमार का यह जीवन पवित्र है। वह परम धार्मिक है और उसके लिए आगे भी सद्गति है, स्वर्ग है। इन दृष्टि से उसका मरना और जीना दोनों ही शुभ हैं। कालशौकरिक का यह जीवन भी बीभत्स है और जगला भी बीभत्स होगा। वह आगे नरक में जाएगा। इसलिए उससे कहा “न जी, न मर।” अर्थात् तैरा जीना और मरना दोनों ही अशुभ हैं। अपने नरक-गमन की वान सुनकर श्रेणिक स्तब्ध रह गये। उन्होंने कहा—प्रभो! आपका भक्त होकर भी -

जाऊगा ? क्या आपकी पर्युपासना का यही फल मिलेगा ?

भगवान् ने कहा—राजन् ! ऐसा नहीं है । नरक का आयुष्य तो तूने मृगया-गृद्धि के कारण पहले ही बाध रखा है । मेरी पर्युपासना का फल तो यह है कि तुम नरक से निकल कर मेरे हो समान तीर्थंकर बनोगे । जैसे मैं इस युग का अन्तिम तीर्थंकर हूँ, वैसे ही तू विकासशील युग का प्रथम तीर्थंकर होगा ।

यह मगल सवाद सुनकर श्रेणिक का मन उल्लास से भर गया । उसने प्रार्थना की—“भगवन् ! ऐसा भी कोई उपाय है जिससे मेरी नरक-यात्रा टल सके ?”

भगवान् ने कहा—“श्रेणिक ? यदि कपिल नाम की ब्राह्मणी दान दे, कालशौकरिक कसाई प्रतिदिन की जाने वाली ५०० भैंसों की हिंसा छोड़ दे और तुम पूणिया श्रावक की सामायिक-साधना खरीद सको तो तुम्हारी नरक-यात्रा टल सकती है ।”

श्रेणिक के मन में इतनी छटपटाहट लगी हुई थी अपने उद्धार के लिए कि वह हर सभव प्रयत्न करने को तैयार था । लेकिन श्रेणिक की बात न कपिला ने मानी, न कालशौकरिक ने । राजा ने अपनी सत्ता के बल पर ऐसा करवाना चाहा, पर सफलता नहीं मिली । कपिला ने राजाना से दान दिया, पर बिना मन के । इसलिए उसने कहा—यह दान मैं नहीं दे रही हूँ, राजा ही दे रहे हैं । कालशौकरिक को कुछ भे डाल दिया गया, पर वह वहाँ भी मिट्टी के भैसे बनाकर मारने लगा ।

श्रेणिक अब भी निराश नहीं था । वह स्वयं भगवान् के परम उपासक समता के विशिष्ट साधक “पूणिया” श्रावक के पास गया और कहा—महाश्रावक ! मुझे तुम्हारी एक सामायिक की आवश्यकता है, मात्र एक सामायिक की । महाप्रभु ने तुम्हारी सामायिक-साधना की बहुत सराहना की है । इसमें इतनी शक्ति है कि उसमें मेरी नरक-यात्रा टल जायेगी ।

श्रावक प्रवर !

अनुग्रह करो, अपनी एक सामायिक मुझे दो और उसका जितना मूल्य हो मेरे राज्य-कोष से अदा करो । श्रावक ने मन ही मन मुस्कराते हुए कहा—नरपुगव ! जिन भगवान् ने आपको सामायिक खरीदने का निर्देश दिया है, उसका मूल्य भी वे ही बतायेंगे । जो मूल्य होगा, वह आप पूछ आइये, मैं आपको सामायिक दे दूँगा । मैंने आज तक यह धधा किया नहीं है ।

सम्राट् हर्ष से उछलता हुआ प्रभु के चरणों में पहुँचा और बोला—

भगवन् । पूणिया श्रावक अपनी सामायिक देने को तैयार है । उसने कहा है कि सामायिक का जो मूल्य भगवान् बतायेंगे उतने में ही हम सौदा कर लेंगे । प्रभो ! बताइए सामायिक का मूल्य क्या होना चाहिये ।

भगवान् ने कहा—“श्रेणिक ! पूणिया श्रावक तो सामायिक देने के लिए तैयार हो गया है लेकिन उसे खरीद पाना तेरे लिए कठिन है ।” श्रेणिक चौंक पड़ा । “भगवन् ! मगध-सम्राट् के लिए भी कोई सौदा कठिन हो सकता है ? प्रभो ! जिस सामायिक के द्वारा मेरी नरक-यात्रा और घोर यातनाएँ टल सकती हैं, उसके लिए मैं मेरे संपूर्ण कोप को भी लुटा सकता हूँ ।”

श्रेणिक ! तुम अपने कोप की बात कर रहे हो, लेकिन उसकी सामायिक के सामने कोप तो क्या तुम्हारा संपूर्ण साम्राज्य भी तुच्छ और नगण्य है । तुम यदि धरती से चन्द्रलोक तक भी स्वर्ण और मणि-मुक्ताओं का ढेर लगा दो, तो भी सामायिक का मूल्य तो क्या, उसकी दलाली का मूल्य भी पूरा नहीं हो सकता ।

यह सुनकर श्रेणिक ठगा-ठगा-सा रह गया । उसकी आशाओं पर तुपाराघात हो गया । भगवान् ने प्रतिबोध की भाषा में कहा—भौतिक ऐश्वर्य के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द कभी खरीदा नहीं जा सकता । साधना के द्वारा ही उस परम तत्त्व की अनुभूति हो सकती है । दूसरी बात, साधना स्वयं के द्वारा ही होती है, दूसरे की अच्छी और बुरी प्रवृत्ति दूसरे के हित और अहित का प्रत्यक्ष निमित्त नहीं बन सकती ।

श्रेणिक ! सघन कर्म के विपाक स्वरूप यह नरक-यात्रा अवश्यभाविनी है, उसे भोगना ही होगा । किन्तु तुम निराश मत बनो । आगामी चौबीसी में तुम प्रथम तीर्थंकर बनोगे । वहाँ तुम्हारे और मेरे बीच की खाई ममाप्न हो जाएगी ।

परम धर्मानुरागी

सम्राट् श्रेणिक अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-साधना करते ही थे । साध-साध दूसरों को भी इस क्षेत्र में प्रेरित करते रहते थे । उनका साधनिक वात्सल्य अनुकरणीय था । मुमुक्षु और विरक्त व्यक्तियों को साधना के क्षेत्र में उतारने और जागे रखने के लिए वे अपनी जार से हर मन्व महयोग देते थे ।

एक बार श्रेणिक ने अपने राज्य, परिवार, सानन्तों तथा मंत्रियों के बीच घोषणा करवाई कि कोई भी व्यक्ति भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मैं उसे रोकूँगा नहीं ।

आगे मुख्य पर उप-बंध

शिक्षक भिक्षु चेतना परिपद, गगाशहर जैनधर्म . जीवन और जगत्

एक बार उन्होने पूरे नगर में उद्घोषणा करवायी कि “कोई भी व्यक्ति भगवान् महावीर के शासन में दीक्षित होना चाहे, वह खुशी से ऐसा कर सकता है। उसके दीक्षा-महोत्सव की पूरी व्यवस्था मैं करूंगा। यदि किसी के भरण-पोषण करने योग्य कुटुम्ब परिवार न हो तो उसके भरण-पोषण की चिंता और व्यवस्था स्वयं मैं करूंगा।”

राजा श्रेणिक की इस घोषणा का बहुत ही सुन्दर प्रभाव पड़ा। उनके अनेक राजकुमार, राजरानिया तथा अन्य मुमुक्षु नागरिक सोत्साह सयम-पथ पर अग्रसर हुए।

उपरोक्त दीक्षा-समारोहों में सम्राट् स्वयं उपस्थित रहते थे। उन मंगलमय दृश्यों को देखकर वे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव करते थे।

इससे पूर्व भी श्रेणिक अपने मेधावी, होनहार प्रतिभा-सम्पन्न एवं प्रशासनिक व्यवस्थाओं में अनन्य सहयोगी ‘राजकुमार अभय, (जो उनका महामंत्री भी था) को तथा मेघकुमार, नन्दीसेन आदि अनेक राजकुमारों को धर्मसंघ में समर्पित कर चुके थे।

सम्राट् श्रेणिक की जैन शासन के प्रति आंतरिक अभिरुचि, जैन सिद्धांतों के प्रति अटूट आस्था तथा भगवान् महावीर के प्रति अपूर्व भक्ति सचमुच ही जैन-धर्म की प्रभावना का प्रबल निमित्त बनी थी।

जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार में सम्राट् की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। राजा की इस धर्मानुरागिता से उनकी प्रजा प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती थी।

यही कारण था श्रेणिक के युग में राजगृह जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया था। उनके प्रभाव से जहाँ राजपरिवार जैन धर्म से अनुरक्त हुआ, उसके वरिष्ठ सदस्य महावीर के सदस्य बने, वहाँ धन्ना और शालिभद्र जैसे धन-कुवेर और सम्मान्य श्रेष्ठी-पुत्रों ने भी उनके संघ की आंतरिक सदस्यता स्वीकार की। रोहिण्ये चौर की जीवन-दिशा बदली तो एक लकड़हारे का जीवन भी दिव्य आलोक से जगमगा उठा।

श्रेणिक एक महाप्रतापी और विजयी सम्राट् थे। उन्होने अपनी प्रशासनिक कुशलता, राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता और पुरुषार्थ-परायणता से अपने साम्राज्य का विस्तार किया, उसे शक्तिशाली बनाया।

तत्कालीन शक्ति-सम्पन्न राजाओं एवं राज्यों के साथ उन्होने मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। यद्यपि अवंती-नरेश चण्डप्रद्योत उनका प्रबल प्रतिद्वन्दी था। लेकिन वह काफी दूर था। मगध की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का साहस वह नहीं कर सकता था। इसलिए श्रेणिक को अपनी

शक्ति और प्रभाव को बढ़ाने का सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया और उस समय उम अवसर का लाभ उन्होंने अत्यन्त विलक्षणता से उठाया । वे अपने देश की शांति-सुव्यवस्था और समृद्धि के लिए बहुत जागरूक थे ।

अनेक विदेशी राज्यों के साथ भी उन्होंने मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए और भगवान् महावीर का मगल सदेश भी वहा तक पहुँचाया । ईरानी सम्राट कुषप (ई० पू० ५५८-५३१) के साथ तो उनके मैत्री-सम्बन्ध काफी प्रगाढ़ थे । उसके साथ राजनैतिक आदान-प्रदान भी हुआ करता था ।

सम्राट कुषप का एक पुत्र आर्द्रकुमार राजकुमार अभय का मित्र था । अभय ने जैन मुनियो या श्रावको के काम में आने वाले कतिपय धर्म-उपकरण आर्द्रकुमार को प्रेमोपहार में भेजे, जिससे प्रतिबुद्ध होकर वह राज-गृह आया और भगवान् महावीर का शिष्य बन गया । आर्द्रकुमार की प्रज्ञा निर्मल थी । वह तार्किक और सिद्धांतवादी भी था । अन्यतीर्थियो के साथ उसके निर्भय चर्चा प्रसंग जैनागमों में काफी मात्रा में उपलब्ध हैं ।

सम्राट् श्रेणिक ने विभिन्न व्यवसायो व्यापारों और उद्योगों को विभिन्न श्रेणियो या निगमों में संगठित किया । कहते हैं इसी कारण से उनका नाम श्रेणिक प्रचलित हुआ । उन्होंने कई ऐसी सस्थाओं की प्रतिष्ठा की जो जनतन्त्रात्मक पद्धति से अपनी प्रवृत्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता से चलाती थी । राज्य द्वारा भी मगध साम्राज्य के व्यवसाय और उद्योग-धंधों को भारी प्रोत्साहन मिला था । वे श्रेणिया ही आगे चलकर विविध जातियों में परिणत हुई—ऐसा अनेक विद्वानों का अभिमत है ।

सम्राट् श्रेणिक एक कुशल शासक थे । जैन-साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उनके राज्य में किसी प्रकार की अनीति और भय नहीं था । प्रजा शान्त, सुखी और धार्मिक थी । राजा श्रेणिक जनपदों के प्रति-पालक और प्रजा-वत्सल थे । वे दयाशील, मर्यादाशील, दानवीर, और महान् निर्माता थे । उन्होंने अपनी राजधानी राजगृह का नव निर्माण किया था ।

श्रेणिक ने ५२ वर्ष पर्यन्त मगध का शासन किया । उनके नेतृत्व में मगध ने सर्वांगीण प्रगति की । उनके शासन काल में जैन धर्म का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ । अन्त में श्रेणिक ने चेलना से उत्पन्न अपने पुत्र कूणिक (अजात-शत्रु) को राज-पाट सौंप कर एकांत में धर्म-ध्यान-पूर्वक शेष जीवन बिताने का निश्चय किया ।

बौद्ध भिक्षु देवदत्त के वहकाने पर कूणिक ने अपने पिता को बन्दी बना लिया और स्वयं राजगृही पर बँठ गया ।

फिर अपनी मा द्वारा अपने प्रति पिता के प्रगाढ स्नेह-की घटना सुनकर उसका मन ग्लानि और पश्चात्ताप से भर गया । वह तत्काल पिता को बन्धन-मुक्त करने और क्षमा मागने के लिए दौडा । उसके हाथ मे हथौडा था । श्रेणिक ने सोचा यह मुझे मारने के लिए आ रहा है । उन्होने तत्काल तालपुट विश खाकर आत्महत्या कर ली । कूणिक जब निकट गया तो उनके प्राण पखेरू उड चुके थे ।

इस प्रकार ई० पू० ५३५ मे महान् प्रतापी और धर्मात्मा नरेश एव भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् का दु खद प्राणात हुआ ।



उसके दृष्टिकोण और चरित्र में विकार उत्पन्न करते हैं। वे आत्मा की शक्ति को स्थलित करते हैं। कुछ कर्म-परमाणु शरीर-निर्माण और पौद्गलिक उपलब्धि के हेतु बनते हैं। इस प्रकार आश्रव बन्ध का निर्माण करता है। बन्ध पुण्य-कर्म और पाप-कर्म द्वारा आत्मा को प्रभावित करता है। कर्म-प्रभावित आत्मा ही जन्म-मरण की परम्परा को आगे बढ़ाती है। जन्म-मरण की यात्रा ही ससार है। उसका हेतु है—आश्रव।

आश्रव

कर्माकर्षणहेतुरात्मपरिणाम आश्रवः ।

—जैन सिद्धांत दीपिका ४/१६

कर्म-आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणाम को आश्रव कहते हैं। आश्रव चेतना के छेद हैं। उनके द्वारा विजातीय तत्त्व—कर्म रजों निरन्तर आत्मा में प्रवेश करती रहती हैं। आश्रव को रूपक की भाषा में समझाया गया है। जैसे नौका में छेद होते हैं, तालाब के नाला होता है, मकान के द्वार होते हैं, वैसे ही आत्मा के आश्रव होते हैं। आश्रव कर्म ग्रहण करने वाले आत्म-परिणाम हैं। आत्मा की अवस्था है, इसीलिए जीव है।

आश्रव पांच हैं—

- १ मिथ्यात्व आश्रव—विपरित श्रद्धा, तत्त्व के प्रति अरुचि।
२. अविरित आश्रव—पौद्गलिक सुखों के प्रति अव्यक्त लालसा।
- ३ प्रमाद आश्रव—घर्माचरण के प्रति अनुत्साह, आत्म-विस्मृति।
- ४ कषाय आश्रव—आत्मा की आंतरिक उत्तप्ति।
- ५ योग आश्रव—मन, वचन और काय की चंचलता, प्रवृत्ति।

मिथ्यात्व आश्रव

अतत्त्व में तत्त्व का सज्ञान, अमोक्ष में मोक्ष का सज्ञान तथा अधर्म में धर्म का सज्ञान मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्व से प्राणी की चेतना मूढ़ होती है। उससे दृष्टिकोण मिथ्या होता है।

मिथ्यात्वी विपरीत मान्यता से दीर्घ ससारी हो जाता है। उसे प्रकाश की प्राप्ति नहीं होती। वह जड़ जगत् को अपने आकर्षण का केन्द्र मानता है। मिथ्यात्व की तुलना गीता के तमोगुण से होती है। वहाँ कहा गया है कि वह बुद्धि तामसी होती है, जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सत्य को विपरीत मानती है।

बुद्ध की भाषा में वह दृष्टाश्रव है, जो यथार्थ में अयथार्थ का दर्शन करता है, तथा अयथार्थ में यथार्थ का। पतञ्जलि इसे “अविद्या” कहते हैं। मिथ्यात्व की विद्यमानता में न तो तत्त्वों के प्रति श्रद्धा जागृत होती है और न सत्य के प्रति आकर्षण। यह मिथ्यात्व मोह के उदय में सतत मूढ़ रहता

हे। मूढ़ व्यक्ति धर्म को सही रूप में नहीं जान सकता।

अविरति आश्रय

पदार्थों के प्रति व्यक्त या अव्यक्त आभक्ति या आंतरिक लालसा का नाम अविरति है। सम्पूर्ण दर्शन के अभाव में पदार्थों के प्रति होने वाला आंतरिक आकर्षण नहीं छूटता। सत्य की शोध में बाहर का विकर्षण या विराग का होना अत्यन्त अपेक्षित है। अविरति के कारण आत्मा के प्रतिक्षण कर्मों का बन्धन होता रहता है।

प्रमाद आश्रय

प्रमाद का अर्थ है आत्म-विकास के प्रति अनुत्साह। प्रमाद व्यक्ति को जागृत नहीं होने देता। आत्म-विस्मृति में प्रमाद की अहमूमिका रहती है। शराब, नीद, व्यर्थ की बातें, इन्द्रिय-विषय और कषाय-- ये सब प्रमाद के पोषक तत्व हैं। मनुष्य सामान्यतः इन्हीं वृत्तियों की धुरी पर घूमता रहता है। ये वृत्तियाँ उसे भीतर भ्रष्ट करने नहीं देती। प्रमाद आंतरिक मूर्च्छा है, स्वयं की विस्मृति है और है अस्ति व-शोध के प्रति अनुत्साह। प्रमाद का कषय लोभे बिना अध्यात्म की शिमया चैतन्य-मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकती।

कषाय आश्रय

जो वृत्ति आत्मा को उत्तप्त करती है उसे "कषाय" कहा जाता है। कषाय प्रमाद का ही एक अंग है, फिर भी आश्रयों में उसका स्वतंत्र उल्लेख है। इसका कारण यह है कि आत्म-विकास की क्रमिक अवस्थाओं में प्रमाद का छूट जाना पर भी कषाय के प्रकम्पन चालू रहते हैं। उसके सूक्ष्मताओं के प्रति नयेत हुए बिना मुक्ति संभव नहीं। कषाय के मुख्य अंग हैं—शोध, मान, माया और लोभ। ये आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि में बाधक हैं।

योग आश्रय

जीना न माना बन्धन और बाधा ही प्रवृत्ति को योग रहत है।

दूरे प्रकृति में जाना जागृत चलना। हमारे व्यवहार के तब पर जो पटनाए पड़ती है, उनसे आंतरिक अज्ञान के प्रतिबिम्ब भाव है। पटनाए अस्तुत नोतर पड़ती है, गहराता उनका विस्तार का अनिर्व्यक्ति नाम होती है।

निष्काम, अविरति, प्रमाद और कषाय ये चार सूक्ष्म अव्यक्त प्रवृत्तियाँ हैं। इनमें आत्मा के अध्यात्म का सूक्ष्म स्वरूप होता है। योग स्थूल, अक्षय वृत्ति है। यह स्थूल बुद्धि के जानी जा सकती है।